TIGHT BINDING BOOK

तिरंगे कफ़न

अमृत राय

हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण दिसम्बर ४८

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस
अलाहाबाद

मुद्रक
सरस्वती प्रेस
बनारस

आवरण चित्र
सूर्य राय

वर्णलिपि
कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव



मूल्य अढ़ाई रुपया

बहादुर बोल्शेविक सिपाही

त्रिभुवन को

क्रम

तिरंगे कफ़न

आह्वान

नाव पर बैठे हुए थे शिरीष, उसकी वाग्दत्ता ललिता, ललिता के पिता, माँ, छोटे भाई और छोटी बहन। आसमान पानी की तरह साफ और पानी आसमान की तरह नीला था। परात के बराबर, पूनम का पागल, जुआरी चाँद आज ही अपना सारा वैभव लुटा देना चाहता था। नंगी-नंगी पहाड़ियाँ, स्तब्ध पेड़, शान्त पानी सब चाँद की ठंडी-ठंडी किरनों में नहाये खड़े थे।

शिरीष को अनायास, ओस में नहाये हुए मटर के फूलों की याद हो आयी। खूब अच्छी हवा चल रही थी। वह तेज तो इतनी भी न थी कि ललिता के आँचल को थोड़ा-सा भी दोलायमान कर सके, मगर शरीर को उसका ठंडा, सुखद स्पर्श बराबर मिल रहा था। नाव धीरे-धीरे उस गहरे नीले पानी को काटती बढ़ी जा रही थी। उलटी दिशा से आती हुई एक नाव पर से बाँसुरी की आवाज आ रही थी—हवा के पंखों पर चढ़कर, द्रुत, स्वर खिंचा हुआ, गहरा, गहरे पानी की तरह।

वह असल में बड़ी नदी का एक हिस्सा था जिसे चट्टानों ने बाकी नदी से काटकर यों घेर दिया था कि वह सबसे अलग एक स्वतंत्र झील जैसी जान पड़ती थी—नीले गहरे निश्चल पानी की एक अपरूप श्री। उसके

चारों ओर था पहाड़ी प्रदेश जहाँ स्वस्थ पुरुष के सीने की-सी चौड़ी-चौड़ी चट्टानों पर चाँदनी अपनी समस्त कोमल, नग्न रूपराशि समेत बेखटके सोयी हुई है। भीषण वेग से गिरनेवाले जल-प्रपात के दूध के फेन के समान उजले पानी को चाँदनी और उजला बनाने की कोशिश कर रही थी। अनेक धाराएँ आपस में टकराकर जहाँ गिरती थीं वहाँ सूर्य जैसा द्युतिमान और हिम जैसा स्वच्छ एक बड़ा-सा असंख्य दलों का श्वेतकमल खिल जाता था। आसपास ढाक के अलसाये हुए-से पेड़ अपने चौड़े-चौड़े पत्तों पर किरणों का नाच सँभाले, विमुग्ध दर्शकों की भाँति निःस्पंद, नीरव खड़े थे। इमली के पत्तों के बीच से छनकर जमीन पर आती हुई चाँदनी, चाँदनी के फूलों की तरह झरी पड़ी थी।

शिरीष का मन इन सबका प्रभाव लिये नाव की दोला पर बैठा था। ललिता को आँख भरकर देख सकना भी संभव न था। फिर और क्या। शिरीष की इच्छा होती थी कि ललिता का हाथ अपने हाथ में ले ले, उससे यों ही दो-चार बातें करे, बिलकुल यों ही, कुछ भी, संसार की किसी भी चीज के बारे में, स्वयं ललिता के बारे में, कालेज की उसकी पढ़ाई के बारे में, झील के गहरे नीले पानी के बारे में (तुम्हें तैरना आता है ललिता? चाँद की रोशनी आज कितनी तेज है! ओफ, आज क्या पूरा शहर इसी जगह फट पड़ा है!)............

चेहरे पर तरल काठिन्य का एक विचित्र, मिश्रित भाव लिये वह शिरीष के ठीक सामनेवाले पटरे पर प्रतिमा की भाँति बैठी हुई है। ललिता का भाई पानी से छप-छप करके खेल रहा है। बहुत आनन्द आया तो पानी में पैर लटकाकर बैठ गया। तब माँ ने कहा—भैया, पानी में पैर लटका-कर मत बैठो, इसमें मगर हैं।

ललिता ने थोड़े आश्चर्य मिले स्वर में कहा—मगर?

ललिता के मुँह से निकला हुआ यह शब्द शिरीष को किसी ऐसे प्रिय गाने की कड़ी जैसा लगा जो उसे बरसों बाद अचानक सुनायी पड़ गया हो।

उसने कहा—आपने देखे नहीं, परले किनारे पर दो-तीन पड़े हुए थे........ और उसकी इच्छा हुई कि अगर किसी जादू से वह मगर बन जाता तो ललिता को डराता, देखता वह डरने पर कैसी दिखती है........ललिता हँसती है तो कितनी प्यारी मालूम होती है (उसके दाँत बड़े सुन्दर हैं), उसका मुखड़ा कितना भोला है, उसे देखकर कौन कह सकता है कि इक्कीस की है।

शिरीष पागल है सही (और क्यों न हो !), मगर उसकी इस बात में तथ्य है। ललिता सचमुच अपनी उम्र से बहुत कम दिखती है। वयस् का संबन्ध असल में मन से होता है; मगर कुछ चेहरों की एक विशेष प्रकार की गढ़न ही होती है जिस पर प्रौढ़ता का रुक्ष भाव कभी नहीं आता। वैसा ही शैशव का आभास ललिता के चेहरे पर है। शिरीष अब अच्छी तरह जान गया है कि यह ललिता की बड़ी-बड़ी आँखों, लंबी-सी, उठी हुई नाक और पतले-पतले ओठों की दुरभिसंधि है !

ललिता ने कहा—कहाँ ? मैंने तो नहीं देखे।...........और चकित मृगी की भाँति चारों ओर निहारा।

नाव तब तक और आगे बढ़ आयी थी—झील (झील ही कह लें उसे) यहाँ पर और पतली हो गयी थी। झील के दोनों ओर ऊँची पहाड़ियाँ थीं—एक ओर चिकने सफेद संगमर्मर और दूसरी ओर चिकने काले संगमूसा की दो-दो सौ फीट ऊँची पहाड़ियाँ। पानी के बीच-बीच में जगह-जगह पर आड़ी-तिरछी अनेक सफेद और सिलेटी रंग की चिकनी-चिकनी चट्टानें खड़ी थीं—पानी के बीच प्रस्तर की तरल दीवारें (नीचे पैरों के पास बहते हुए कल-कल जल ने और ऊपर से बरसती हुई चाँदी ने उन प्रस्तर-प्राचीरों को भी तरल बना दिया था)। नाव पर से दूर से देखने से लगता है कि आगेवाली उस चट्टान के बाद पानी खत्म; मगर नाव जब उसके पास पहुँचती तो दिखता कि चट्टान को छूता हुआ पानी का रास्ता निकल गया है, अनायास लगता कि चट्टान के पीछे कोई छुपा हुआ है

और हमारी नाव आगे बढ़ते ही, चट्टान पार करते ही हमसे 'ता' करेगा और खिलखिलाता हुआ अगली चट्टान के पीछे छुपने के लिए भाग जायगा............

झील के दोनों ओर की चट्टानें इतनी ऊँची थीं कि चाँद का सीधा प्रकाश झील के इस हिस्से पर नहीं पड़ता था। यहाँ पर इस वक्त वही समाँ था जो सवेरे पौ फटने के ठीक पहले या साँझ को ठीक झुटपुटे के समय रहता है। चाँदनी की एक क्षीण आभा चारों ओर फैली हुई थी जिससे रोशनी तो क्या होती, हाँ, अँधेरा जरूर छँट रहा था। शिरीष और ललिता की नाव से कोई चालीस गज आगे उन्मद चाँदनी नीले पानी के संग रली-मिली बह रही थी।

शिरीष को बहुत बरस पहले, छुटपन में देखी हुई एक बड़ी अच्छी तसवीर याद आ गयी जिसमें बिलकुल ऐसा ही दृश्य चित्रित था। उस चित्र को उसके बाल-मन ने प्राकृतिक श्री की एक ऐन्द्रजालिक छटा के रूप में उपलब्ध किया था। उसकी कल्पना का वही स्वप्न-लोक आज धरती पर उतर आया था।

नाव चलानेवाले ने नाव मोड़ी और ललिता की उँगली शिरीष से छुल गयी। शिरीष को जैसे झटका-सा लगा। उसका स्वप्न भंग हुआ। और दूसरा स्वप्न शुरू हुआ जिसमें जलप्लावन के बाद सृष्टि में केवल दो ही व्यक्ति रह गये—समुद्र के क्षुब्ध वक्ष पर नाव खेते हुए शिरीष और ललिता.............

शिरीष ने समुद्र को जितना क्षुब्ध जाना था, वास्तव में वह उससे कहीं अधिक क्षुब्ध निकला।

शिरीष की माँ को जब पता लगा कि शिरीष अपना ब्याह आप तय कर आया है तो पन्द्रह दिन की उनकी संचित व्यग्रता ने भीषण आक्रोश

का रूप ले लिया। शिरीष की माँ को लगा कि उसके बेटे ने, उसकी अपनी संतान ने, उसके अपने रक्त-मांस ने जिसे उसने जन्म दिया और पचीस साल तक असम्भव पीड़ाएँ और दुश्चिन्ताएँ झेलकर पाला-पोसा, बड़ा किया, अपने आँख के मोती की तरह उसने जिसकी रक्षा की, उसी ने उसके साथ विश्वासघात किया। घर से अचानक गायब हो गया और पन्द्रह दिन तक सताने के बाद आज जब फिर से प्रकट हुआ है तो कह रहा है कि वह बहू देखकर अपनी शादी आप तय कर आया है! ये भी क्या भले आदमियों के काम हैं—हाँ-हाँ, मैं जानती हूँ कि आजकल ऐसी शादियाँ बहुत हो रही हैं, मगर उनमें से कै टिकाऊ होती हैं, सौ में एक, हजार में एक! नहीं, ज्यादातर ऐसी शादियों का यही हश्र होता है; चार दिन रंग-रलियाँ मना लीं, उसके बाद मुँह फूलना शुरू, आये दिन खटपट हो रही है और साल ही छः महीने के अंदर तू अलग, मैं अलग। आये दिन यही होता है, रोज यही होता है, मैं क्या देखती नहीं, मैंने धूप में ये बाल नहीं सफेद किये हैं, पढ़-लिख तुम मुझसे ज्यादा गये होगे, मगर दुनिया अभी मैंने ही ज्यादा देखी है ....

दूसरे दिन शिरीष की माँ ने अपनी बड़ी बहन को एक चिट्ठी लिखी—

'........दीदी, छोटे (शिरीष का घर का नाम) कल घर आ गया। जानती हो, कहाँ गायब हो गया था? गया था अपनी शादी तय करने। यहाँ हम लोगों के प्राण नहों में समाये हुए थे और वहाँ वह अपना विवाह रचा रहा था। अरे, विवाह रचाना ही कहलाया जब वह जबान हार आया। हम लोग तो सब जैसे खत्म ही हो गये थे—किसी से पूछने-पाछने की जरूरत भी क्या, चट मँगनी पट बियाहवाला किस्सा है........आजकल दुनिया की क्या रंगत होती जा रही है, मेरी समझ में खाक-पत्थर कुछ नहीं आ रहा है। अगर यही नयी तहजीब है तो मैं इसे दूर से सलाम करती हूँ!...........'

शिरीष ने अपने एक अन्तरंग मित्र को लिखा—

'........बीरू, तुम नहीं जानते मनुष्य के संस्कार कितने प्रबल होते हैं। वर्षों तक दबे पड़े रहने के बाद भी वे कब किस रोज अपनी वीभत्स शकल लेकर सामने आ जायेंगे, कहना कठिन है। संस्कार बदलने के लिए समय की गणना वर्षों नहीं सहस्राब्दो में होनी चाहिए। मैं अच्छी तरह यह बात जानता हूँ कि संसार की कोई शक्ति मेरी माँ के इस विश्वास को नहीं डिगा सकती कि मुझे शादी उनकी मर्जी से करनी चाहिए।........उन्होंने मुझे बहुत बुरा-भला कहा—जन्म देनेवाले का इतना अधिकार तो मानना ही पड़ेगा! मगर मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि वह स्वर केवल उनका नहीं था। उस समय उनके माध्यम से बोल रहा था हमारा जीर्ण-जर्जर युग, हमारी प्राचीनतम रूढ़ियाँ, हमारे युग-युग के पोषित अंधविश्वास। वह हमारे अंधकार-युग का स्वर था। उसका कदर्य दर्प भी वही था जो उत्तराधिकार में हमें उस अंधकार-युग से मिला है। मेरी बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि मैं उनकी बातों का कड़ा जवाब दूँ क्योंकि अगर तुम गौर से देखोगे, बीरू, तो इस सारे झगड़े में व्यक्ति तो केवल निमित्त हैं, असल झगड़ा तो वृहत्तर भूमि पर हो रहा है। यह दो युगों का, दो सहस्राब्दों का (जिनमें से एक अभी अजन्मा है) झगड़ा है, अतीत और भविष्य का झगड़ा है। मैं चाहता था कि माँ के निमित्त से आनेवाले मृतक युग के उस अश्लील दर्प को चूर-चूर कर दूँ, लेकिन मैं वैसा नहीं कर सका। वह मेरी मजबूरी थी, बीरू, मैं अपनी माँ को जानता जो हूँ। जानता हूँ कि वह आज सोलह वर्षों से विधवा है। जानता हूँ कि उस अनन्त वियोग के बाद उसकी दुनिया सदा के लिए लुट चुकी है। जानता हूँ कि कितनी ममता से, कितने लाड़-दुलार से, कैसे अपने हृदय का रक्त देकर उसने मुझे इतना बड़ा किया है, जानता हूँ कि वह मेरी माँ है, यह भी जानता हूँ कि जिस प्रकार कुम्हार अपने को, गढ़े हुए पुरवे को तोड़-फोड़ डालने का अधिकारी समझता है उसी प्रकार माँ भी यह समझने की भूल अनायास कर सकती

है कि उसे अपनी संतान को बनाने या बिगाड़ने का पूरा अधिकार है, लेकिन इस सबके बाद मैं यह भी जानता हूँ कि मैं मिट्टी का पुरवा नहीं हूँ।...........

—शिरीष'

फिर शिरीष ने ललिता की माँ को एक पत्र लिखा—

'माँ,

मैंने सपने में भी कल्पना न की थी कि मुझे अपनी माँ की ओर से इस विवाह-संबन्ध का इतना जबर्दस्त विरोध सहना पड़ेगा। मैं यह तो समझता था कि इस प्रकार के विवाह को उनका मुक्त समर्थन मिलना कठिन है, क्योंकि अपनी कल्पना में उन्होंने मेरा जिस प्रकार का विवाह रचाया होगा, उस प्रकार का विवाह यह नहीं है। उन्होंने मेरे लिए एक कड़े-छड़े से लैस, नाक में कील, पैर में बिछिया, हाथ में ब्रेसलेट या पटरी पहने हुए, लाल चमचम बनारसी साड़ी से ढँकी हुई एक अल्पशिक्षित अवगुंठनवती बहू की कल्पना की होगी। मगर मैं वैसी शादी का मतलब खूब समझता हूँ। वैसी स्थिति में मेरा क्या भवितव्य होगा उसका चित्र, उस चित्र की एक-एक रेखा मुझे अपने रग की तरह उभरी हुई नजर आती है जिसे मैं छूकर जान सकता हूँ। सबसे पहले उसका अर्थ होगा, जीवन को महत्व देनेवाले प्रत्येक आदर्शवाद को रसातल में डुबोकर परिवार के कोल्हू में बैल की तरह जुत जाना। फिर केवल मैं हूँगा और मेरा परिवार—उसके लिए रोटी-कपड़ा जुटाने में ही मेरे जीवन की इति-श्री हो जायगी। मगर मैं इतने से सन्तुष्ट नहीं हूँ माँ। मैं जीवन को इससे अधिक मूल्यवान समझता हूँ। मैं व्यक्ति को परिवार के कोल्हू में जुतकर समाप्त हो जानेवाले बैल से अधिक गौरवशाली देखने का अभिलाषी हूँ। मुझमें प्रतिभा कुछ न हो, मेरी शक्ति अत्यन्त स्वल्प हो, मगर मैं जानता हूँ कि समाज को, राष्ट्र को उसकी भी अपेक्षा है........'

पाँच छः दिन बाद ललिता की माँ का पत्र आया कि ललिता शिरीष

की माँ के विरोध को देखते हुए शादी करने से इनकार कर रही है। मगर उसके साथ ही ललिता की माँ ने यह भी लिखा था कि ललिता आजकल दिनरात उदास रहती है, किसी से बोलती-चालती नहीं। उसकी सारी स्फूर्ति, सारी चंचलता, सारा आवेग न जाने कहाँ हवा हो गया है। कालेज से लौटती है तो झट निटिंग लेकर बैठ जाती है, या कोई किताब उठा लेती है, फिर बड़ी देर तक पढ़ा करती है और कब सोने जाती है, मुझे कुछ पता नहीं रहता। शिरीष, मेरी तबियत तो आजकल यों ही बड़ी खराब रहती है—बिस्तर पर गिरते ही बिलकुल अचेत हो जाती हूँ। मुझसे ललिता से ज्यादा बातचीत नहीं होती, मगर मैं उसके गुमसुम रंग-ढंग देखकर समझ रही हूँ कि आजकल उसके हृदय पर क्या बीत रही है। मैं आखिर को उसकी माँ हूँ; उसके दिल की बात ज्यादा देर मुझसे छिपी नहीं रह सकती। मुझे इस बात का पक्का विश्वास हो गया है कि अब वह और किसी से विवाह नहीं कर सकती। अगर तुमसे उसकी शादी किसी भी कारण से न हो सकी तो वह आजन्म कुमारी रहेगी। उसमें इतना चरित्र-बल है........

ललिता की माँ की चिट्ठी आने के चौथे रोज शिरीष झाँसी पहुँचा। ललिता कालेज से लौटी न थी। कोई तीन-साढ़ेतीन का वक्त रहा होगा। जाड़े के दिन थे।

ललिता कालेज से लौटी तो शिरीष को बरामदे में कुर्सी डालकर बैठे हुए देख पलभर को ठिठक गयी, सहसा आवेग के कारण उसके कान की कोर जलने लगी और उसका चेहरा थोड़ा-सा आरक्त हो उठा। मगर क्षण-भर में ही वह पूर्ण प्रकृतिस्थ हो गयी। उसने हलके से नमस्ते की और कोमल स्मित के साथ पूछा—आप कब आये?

शिरीष ने कहा—अभी तो चला आ रहा हूँ।

ललिता—कैसे चले आये अचानक ?

शिरीष—अचानक तो नहीं, माँ ने बुला भेजा।

माँ पास ही बैठी हुई थीं।

ललिता ने उनकी ओर देखा और हलके से मुसकराकर कहा—ओः, और अपने कमरे में चली गयी।

शिरीष और ललिता जब बात करने के लिए कमरे में फर्श पर साथ-साथ बैठे, तो शिरीष का दिल जोरों से धड़क रहा था। ललिता के दिल की धड़कन सुन सके, इससे अधिक दूरी पर वह बैठा था, और ललिता का चेहरा बिलकुल आवेगशून्य था। शिरीष को तो उस क्षण वह शीतल और कुछ कठोर-सी भी लगी—उसमें जैसे हिम का कुछ अंश हो। मनस्विता की एक परिष्कृत छवि-सी वह बैठी थी, झक सफेद बिना किनारे की खादी की साड़ी और सफेद ब्लाउज छोड़कर उसके शरीर पर और कुछ न था, निराभरण।

शिरीष—मुझे घर पर पाकर आपको बड़ा आश्चर्य हुआ ?

ललिता—नहीं, आश्चर्य किस बात का ? मगर माँ को मुझसे कहना चाहिए था कि उन्होंने आपको बुलाया है।

शिरीष—मैं अपना भविष्य स्थिर करने आया हूँ........

ललिता—नहीं, यह तो न कहें, वह अकेले आपका भविष्य नहीं है।

शिरीष—वही सही ...... मगर आपने ऐसा निश्चय क्यों किया है ?

ललिता—क्योंकि वही मुझे ठीक जान पड़ता है।

शिरीष—ठीक और बेठीक की मीमांसा क्या इतनी सरल होती है ?

ललिता—मुझे तो वह कुछ बहुत कठिन नहीं लगती।

शिरीष—तब आपको कोई बलिदान कठिन न लगता होगा।

ललिता—बलिदान यदि अकारण न हो तो उसके बारे में निश्चय कर लेना सरल होता है।

शिरीष—यह बलिदान अकारण नहीं है क्या ?

ललिता—आपको कैसा लगता है ?

शिरीष—सोच-समझ कर कह रहा हूँ, बिलकुल अनपेक्षित।

ललिता—मैं तो ऐसा नहीं समझती।

शिरीष—क्यों ?

ललिता—आपका हृदय पुरुष का है........निष्ठुर.......

शिरीष—यानी ?

ललिता—यानी अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए वह दूसरे की हत्या कर सकता है। मुझे आत्म-बलिदान अधिक सरल लगता है।

शिरीष—आपने मेरी माँ को आवश्यकता से अधिक कमजोर मान लिया है।

ललिता—कोई भी माँ इस आघात को न सह सकेगी, खासकर आपकी जिनके आप ही अकेले अवलंब हैं।

शिरीष—आपका डर ठीक हो सकता है, मगर इसमें मेरा क्या दोष है ?

ललिता—दोष आपका न भी हो तो उससे क्या !

शिरीष—मेरे मन पर बोझ न रहेगा।

ललिता—क्षमा करें, आप अपने मन को नहीं समझते—बोझ रहेगा।

शिरीष—मैं उसे बलात् निकाल फेकूँगा।

ललिता—आपके जीवन का सत्व उसी के संग निकल जायेगा।

शिरीष—वह तो युग का अभिशाप है।

ललिता—तो फिर अपने ही जीवन में आप इस सत्य को निश्शंक होकर क्यों नहीं स्वीकार करते ?

शिरीष—करता तो हूँ।

ललिता—तब आपको मेरे इस प्रस्ताव का समर्थन करना चाहिए कि हम विवाह के संबन्ध में न बँधें।

शिरीष—क्यों ?

ललिता—अभिशप्त युग में पैदा होने का कर नहीं अदा करेंगे ? !

शिरीष—यह तो आत्महत्या है।

ललिता—आत्मोत्सर्ग भी तो एक प्रकार की आत्महत्या ही होती है।

शिरीष—आत्मोत्सर्ग के पीछे फल-प्राप्ति की कामना रहती है।

ललिता—आप एक पवित्र वस्तु का अपमान कर रहे हैं !

शिरीष—आपने मुझे गलत समझा या शायद मैंने बात ठीक ढंग से कही नहीं। मैं कहना चाहता था कि आत्मोत्सर्ग के पीछे कोई पवित्र उद्देश्य रहता है।

ललिता—यहाँ पर क्या वह नहीं है ?

शिरीष—विवाह से जीवन में पूर्णता आती है।

ललिता—मैं यह समझती हूँ।

शिरीष—तब फिर सारी जिन्दगी इसी अपूर्णता को ढोने का प्रस्ताव कैसा ?

ललिता—उसके पीछे एक विवशता है।

शिरीष—उसे दूर किया जा सकता है।

ललिता—मुझे विश्वास नहीं होता......

और उठने लगी।

शिरीष ने कहा—आप बड़ी कठोर हैं......

ललिता ने अपनी नमित पलकें एक बार ऊपर उठायीं, फिर नीची कर लीं।

[२]

आगरे के बाग मुजफ्फर खाँ मुहल्ले में वह घर था। मुहल्ले के एक छोर पर है इसलिए मुहल्ले में होते हुए भी उससे कुछ अलग-अलग-सा है। बहुत जमाने से पुताई-वुताई नहीं हुई है, इसलिए घर कुछ उदास-उदास नजर आता है। उसमें मुश्किल से तीन कमरे हैं।

शिरीष जब मुहल्ले में कई जगह पूछता-पाछता पहुँचा तो ललिता उस वक्त मुहल्ले के कुछ लोगों को पढ़ा रही थी। बाकायदा मदरसा लगा हुआ था। काले गोरे पीले, सभी रंग के लड़के सामने चटाई पर बैठे हुए थे। कोई बीस लड़के रहे होंगे। दो-तीन अधेड़ उम्र के लोग भी थे। लड़कों की उम्र छः-सात साल से लेकर बारह-तेरह साल तक की रही होगी। एकदम नंगा तो कोई नहीं था, इस अर्थ में कि धड़ के निचले हिस्से में सभी कुछ-न-कुछ पहने हुए थे, मगर धड़ के ऊपरी हिस्से में कमीज पहने हुए लड़के ज्यादा-से-ज्यादा तीन-चार होंगे। सितम्बर के महीने में ज्यादा ठंडक नहीं होती, यह बात सही है, मगर शाम-वाम के वक्त अगर शरीर पर कपड़ा रहे तो उससे सुख ही मिलता है......

ललिता की रात्रि-पाठशाला चल रही थी। ललिता भी आसन पर बैठी हुई थी। शिरीष को ललिता उसकी हमेशा-हमेशा की पहचानी ललिता लगी—अपनी चिर-परिचित वेश-भूषा में, वही खादी की सफेद, बेकिनारे की धोती, सफेद ब्लाउज और एकदम अलंकार-शून्य।

शिरीष हठात् उसके सामने जा खड़ा हुआ। ललिता जरा देर को अचकचा गयी, वैसे ही जैसे दो साल पहले अपने घर झाँसी में। मगर प्रकृतिस्थ होते भी उसे अधिक देर न लगी। बोली—आप?

शिरीष—हाँ मैं। क्यों? बड़ा अचंभा हुआ?

ललिता—नहीं, मगर......

शिरीष—मैंने पहले से लिखा क्यों नहीं, यही न?

ललिता ने सिर हिला कर बात की ताईद की।

शिरीष—मगर मैं लिखता भी कैसे, आने का कुछ खास इरादा तो पहले से था नहीं......

ललिता—खैर अभी तो आप अन्दर चलकर मुँह-हाथ धोइये।

शिरीष को नहाते वक्त लगातार यह खयाल सता रहा था कि उसने ललिता के पास यों ही अचानक आकर अच्छा नहीं किया।

ललिता द्व्यर्थक शब्द नहीं इस्तेमाल करती। रात, खाना खाते समय उसने कहा—आपको इस तरह मेरे यहाँ नहीं चले आना चाहिए था। आप जानते हैं, हमारा समाज किस बुरी तरह रूढ़ियों में जकड़ा हुआ है।

शिरीष से कुछ जवाब देते न बना। गरीब कहता भी क्या। अपनी गलती महसूस करता हुआ वह खामोश बैठा रहा।

ललिता ने अपने प्रहार की सख्ती कम करने की कोशिश करते हुए कहा—मानती हूँ कि इसमें दोष आपका नहीं, समाज का है, जो यह मानने से इनकार करता है कि अगर कोई आदमी किसी स्त्री से मिलता है या बातचीत करता है तो उसका उद्देश्य असत् छोड़ और कुछ नहीं हो सकता। इसमें समाज की जड़ता भले हो, मगर है वह एक हकीकत जिससे इनकार नहीं किया जा सकता।

ललिता ने देखा कि शिरीष का चेहरा बिल्कुल उतर गया है और वह आँखें नीची किये रोटी तोड़ रहा है, टुकड़ों के भी टुकड़े कर रहा है। ललिता का मन ग्लानि से भर आया और उसे लगा कि शिरीष के प्रति उसका व्यवहार सचमुच कठोरता की सीमा पर पहुँच गया है। उस वक्त उसे यह निर्णय करने का अवकाश नहीं था कि उसने शिरीष से जो बात कही, उसे कहना बिलकुल अनिवार्य था या उसे कहे बिना भी काम चल सकता था। शायद नहीं, मगर इस वक्त वह बहस नहीं है। एक भला आदमी मेरे घर आया है, मुझे उसकी खातिर करनी चाहिए......

तब तक खाना खत्म हो गया था और वे सामनेवाले कमरे में आ बैठे।

ललिता ने फिर कहा—मैं आपसे माफी माँगती हूँ। मेरी बात आपको बड़ी सख्त लगी होगी। मगर मैं क्या करूँ, मैं बहुत विवश हूँ : हम आप सब बिलकुल विवश हैं। कल से लोग कुछ-कुछ बातें कहने लग जायेंगे। मैं नहीं चाहती कि किसी को कुछ भी कहने का, जरा भी उँगली उठाने का मौका मिले......और फिर आपसे दुराव भी क्या। इसीलिए जो बात ध्यान में आयी, मैंने बिना संकोच कह दी, इसी विश्वास से कि आप बुरा

न मानेंगे। कोई बात अगर बुरी लगी हो तो छोटा जानकर माफ कर देंगे। मैं आपसे छोटी हूँ।

शिरीष—नहीं, आपकी बात बिलकुल ठीक है। मुझे सोचना चाहिए था।

ललिता—अब छोड़िये भी उस बात को। कहिये, घर पर क्या हाल-चाल हैं? माँ कैसी हैं?

शिरीष—अच्छी हैं—हाँ, इधर थोड़ी हरारत जरूर रहने लगी है।

ललिता—डाक्टर को दिखलाया?

शिरीष—दिखलाया जरूर। मगर कोई ठीक से कुछ बतलाता ही नहीं। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ—मेरा तो खयाल है, बुढ़ापा है।

ललिता—सो तो होगा ही; मगर मैं समझती हूँ, उन्हें कोई मानसिक तकलीफ भी है।

शिरीष—पता नहीं। हो सकती है।

थोड़ी देर की शान्ति।

ललिता—आपको अपनी माँ का खयाल करके शादी कर लेनी चाहिए।

शिरीष—माँ ही तो नहीं राजी होतीं—

ललिता—नहीं, मेरा मतलब उनकी मर्जी से विवाह करने से है।

शिरीष—आप यह कैसी बात कर रही हैं?

ललिता—मैं ठीक ही कह रही हूँ, आप मुझे गलत न समझें। मैंने इस सवाल पर इन दो बरसों में बहुत गौर किया है।

शिरीष—अगर मैं अपनी माँ की मर्जी के मुताबिक ब्याह कर लूँ तो इससे आपको सुख मिलेगा?

ललिता का चेहरा थोड़ी देर को जैसे फीका-सा पड़ गया। उसने कहा—सुख?......हाँ, क्यों नहीं।

शिरीष ने ललिता की आँखों में आँख गड़ाते हुए कहा—आप सच कह रही हैं ?

प्रश्न बहुत ज्यादा तीक्ष्ण था। उसे कुछ डर-सा लगा। शिरीष इस तरह मेरी तरफ़ क्यों घूर रहा है ? उसकी आँखें कैसी जल रही हैं। उसका चेहरा उदास नहीं है क्या ? उसके चेहरे पर यह अजीब-सा संकल्प किस बात का है ? शिरीष बहुत बुरा आदमी है। उसे इस तरह मेरी तरफ़ न देखना चाहिए।

शिरीष ने फिर जवाब तलब किया—आपने कुछ कहा नहीं।

ललिता भीतर ही भीतर जैसे काँप-सी गयी—उसका भविष्य दरवाजा खटखटा रहा था, दरवाजा खोले या नहीं। शिरीष कितना निष्ठुर है : वह मुझसे इस सवाल का जवाब चाहता है ! मुझसे ! काश !

सवाल को टालने के लिए उसने जवाब दिया—क्यों नहीं, आप विवाह करके सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करें, इससे किसे सुख न होगा।

शिरीष ने अपने हृदय मसोसनेवाले दर्द को दबाते हुए कहा (शिरीष की आवाज भारी हो गयी थी और अब सभी प्राचीरें ढह गयी थीं)—ललिता, छल न करो।

ललिता—अब भी कुछ जानने को बाकी है शिरीष ? तुम्हारा प्रश्न करना ही सबसे बड़ा छल है। तुम क्या जवाब सुनना चाहते हो जो तुमको पहले से नहीं मालूम है !

आवेश की आँधी निकल जाने पर जैसे रुककर पूरी साँस लेते हुए ललिता ने कहा—जीवन में सुख नहीं है शिरीष। उसकी खोज ही व्यर्थ है। जो नहीं है, उसे लाख खोजने पर भी नहीं पाया जा सकता।

शिरीष—ललिता, तुम पागल हो...तुम मुझसे छल क्यों कर रही थीं ?

ललिता—मैं छल नहीं कर रही थी......

शिरीष—उसे छल कहना ही ठीक होगा......तुम्हें इस बात का भय था कि मैं तुम्हारे मन को नंगा न देख लूँ......

ललिता—तुम मुझे गलत समझ रहे हो शिरीष !

शिरीष—......पर मुझे ऐसा कोई भय नहीं है। मुझे तुम्हारे सामने यह बात स्वीकारने में जरा भी शर्म या झिझक नहीं है कि मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता, तुम्हारे बिना अपने जीवन की कल्पना नहीं कर सकता। यह बात तुम्हारे सामने मान लेने में मैं कोई बुराई नहीं देखता ललिता... अब तुम चाहो तो मुझसे घृणा कर सकती हो !

ललिता—कैसी बात कर रहे हो शिरीष !......मैं तुमसे छल नहीं कर रही थी......मैं तुम्हारे और तुम्हारी माँ के बीच अभिशाप की एक छाया बनकर नहीं आना चाहती।

शिरीष—तुम सदा अपनी ही ओर से क्यों सोचती हो ?

ललिता—और कर भी क्या सकती हूँ ?

शिरीष—सच ?

ललिता—......हाँ, मैं अपनी बात जानती हूँ, तुम अपनी बात जानो।

शिरीष—दोनों क्या ऐसी समानान्तर रेखाएँ हैं जो कहीं एक दूसरे को नहीं छूतीं ?

ललिता—छूती हैं, मगर वहीं तो सबसे बड़ा डर है।

शिरीष—काहे का ?

ललिता—कर्तव्य के पथ से अलग हो जाने का।

शिरीष—यानी ?

ललिता—अपनी हथेली पर रखे हुए अमृतफल में कहीं दाँत न गड़ा दूँ, इसी के लिए मुझे अपने आपसे लगातार लड़ना पड़ता है......

और यह कहते-कहते ही जैसे कोई ललिता के गोरे मुखड़े पर हलका-सा सेंदुर मल गया।

शिरीष—मेरी जिन्दगी के कितने हिस्से को तुमने घेर लिया है, यह जानती हो, ललिता ?

ललिता—बताना आवश्यक है क्या ?

शिरीष—नहीं।

फिर थोड़ी देर खामोशी रही।

शिरीष ने डेकचेयर पर पीछे की ओर तनते हुए कहा—दो जीवनों की आहुति देने की बात तुम्हें इतनी सहज क्यों लगती है?

ललिता—सहज नहीं, अनिवार्य।

शिरीष—शब्दों पर मत अड़ो, ललिता।

ललिता—दोनों दो बातें हैं। मेरी ओर देखो। दोनों में बड़ा अंतर है शिरीष!

शिरीष—मैं इस आहुति को अनिवार्य नहीं मानता—तुम हरदम मेरी माँ की बात क्यों उठाती हो!

ललिता—इसलिए कि तुम्हीं उनके अकेले अवलंब हो। तुम्हें खोकर उनके जीवन का अवसान हो जायगा।

शिरीष—हो सकता है, मगर कोई रास्ता भी तो नहीं है। युग-युग से सुलग रही जड़ता की उस वन्य आग में हम-तुम क्यों जलें?

ललिता—इसीलिए कि तुम अधिक उद्बुद्ध हो। नये सत्य के तुम आविष्कारक हो : जलना ही तुम्हारा पुरस्कार है।

शिरीष को आश्चर्य हो रहा है कि ललिता ने अपने हृदय के चारों ओर कितने कवच मढ़ दिये हैं!

शिरीष—जड़ता के आगे सिर झुकाकर कभी नयी दुनिया की नींव नहीं रखी जा सकती।

ललिता—यह जरूरी है कि नींव में कुछ लाशें भी हों?

शिरीष—पुरानी दुनिया की लाश पर ही नयी दुनिया की नींव रक्खी जाती है।

ललिता—वह तो केवल एक रूपक है।

शिरीष—नहीं, वह—वही क्रूर यथार्थ है ललिता, जो हम दोनों के जीवन को रोके खड़ा है।

ललिता—तुम बड़े एकनिष्ठ विद्रोही हो शिरीष, पर मेरा मन इसे नहीं कबूल करता।

शिरीष—क्या नहीं कबूल करता?

ललिता—कि हम अपनी नयी जिंदगी की नींव तुम्हारी माँ की लाश पर रखें।

शिरीष—क्या इस बात को इसी तरह कहना जरूरी है?

ललिता—दूसरी तरह भी यही बात कही जा सकती है, मगर उससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

शिरीष—तो यह कहो कि तुम्हें डर लगता है।

ललिता—हाँ।

शिरीष—पर तुमने क्या यह कभी नहीं सोचा कि जिस हद तक निर्माण में ध्वंस संनिहित है उसी हद तक एक खास तरह की निर्ममता भी?

ललिता—शायद तुम ठीक कहते हो।

पटाक्षेप।

थोड़ी देर बाद शिरीष और ललिता अपने-अपने कमरे में सोने चले गये।

[३]

आगरे से लौटने पर शिरीष का जीवन फिर अपनी जानी-पहिचानी डगर पर दौड़ने लगा। कुछ थोड़ा-सा लिखने-पढ़ने का काम और वही थोड़ी-सी राजनीतिक जिंदगी, मगर उतने ही से तो जिंदगी जैसे भर उठती है—शिरीष अक्सर सोचा करता। ललिता की कमी कहीं किसी कोने में खटकती जरूर है, मगर कहाँ, यह ठीक-ठीक बतलाना मुशकिल है, क्योंकि कभी यह पता लगाने का अवकाश जो नहीं मिला। जीवन तो अपनी सारी संकुलता समेत चलता है—व्यथा को सहलाने का समय कहाँ है। जीवन की उस गहरी अतृप्ति ने शिरीष के पूरे जीवन को रँग दिया है सही, मगर

इससे उसकी कर्म-तत्परता में फर्क नहीं आया है, उसी तरह जैसे कभी-कभी काँसे के रंग के, तैलाक्त-से, धूसर आकाश को देखकर बटोही का मन आशंका से भर अवश्य उठता है, मगर उसके पैर चलते ही रहते हैं। अपने जीवन की सारी निष्ठा से किसी अच्छे काम में लगे रहने से जीवन को जो पूर्णता और सुख मिलता है, वह शिरीष को भी अनुभव होता। ललिता के वियोग में उसने एक दिन भी सिर नहीं धुना, एक दिन भी आह नहीं भरी, एक शाम भी बिसूरने में नहीं काटी। काम करते समय अक्सर उसकी आँखों के आगे उत्साह की अपूर्व दीप्ति से भरी हुई ललिता की वह छवि खिंच जाती जब वह अपनी रात्रि-पाठशाला के लड़कों की तेज अक्ल का बखान करते-करते जैसे अपने-आपको भूल जाती। अभी कल या परसों उसकी एक चिट्ठी आयी है जिसमें उसने अपने बारे में एक शब्द नहीं लिखा है, पूरी चिट्ठी में रात्रि-पाठशाला का जिक्र है, नाम ले-लेकर गिनाया है, किस लड़के को वजीफा मिला है, कौन लड़का पढ़ने में तेज है, कौन सुस्त, आगे उसकी कौन-कौन-सी योजनाएँ हैं......

[४]

अप्रैल का महीना है। आधा महीना जा चुका है। शहर इलाहाबाद की बात है। अच्छी खासी गर्मी पड़ने लगी है। अभी लू तो नहीं चलती, मगर धूप सख्त होने लगी है और शामें खुश्क और तकलीफदेह।

ऐलफ्रेडपार्क में शिरीष और ललिता हरी दूब पर बैठे हुए हैं। आस-पास बेशुमार लड़के हैं। सभी यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी हैं। आजकल इम्तहान चल रहे हैं। दिन-भर की रटंत के बाद शाम को यह हवाखोरी जरूरी हो जाती है, दिमाग को ठंडा करने के लिए। और इसमें शक नहीं कि हरी मखमली दूब पर लाल, पीले, केसरिया, सफेद, हरे और कई मिले-जुले रंगों के फूलों की जो चादर बिछी हुई है उसका रूप और कई फूलों और घास और गीली मिट्टी की मिली-जुली सुगंध दिमाग से कोर्स की किताबों

की बासी बू दूर करती है। ललिता भी अँग्रेजी में एम० ए० की परीक्षा देने आयी है। उसने दो साल तक काफी मनोयोग से पढ़ा है, इसलिए इस समय पार्क में बैठकर रंग-बिरंगे फूलों और नीले अनभ्र आकाश की शोभा निरख सकती है, जब कि पास ही बैठे हुए कुछ लड़के पिछले आठ-दस साल के प्रश्नपत्रों के संबंध में गंभीर बहस कर रहे हैं और संभाव्य प्रश्नों के संबंध में अपनी-अपनी अटकल लगा रहे हैं।

पहले तो शिरीष की माँ ललिता को देखकर मन ही मन थोड़ा कुढ़ीं। उन्हें लगा कि ललिता जरूर शिरीष को फँसाने के लिए कोई जाल बिछा रही है। लेकिन एक ही दो दिन में उनका भ्रम दूर होने लगा और उन्हें थोड़ा-थोड़ा विश्वास हो चला कि ललिता कितनी ही खराब क्यों न हो, किसी को फँसाने के लिए जाल बिछाये, ऐसी वह नहीं है। और कुछ नहीं तो उसका दृप्त स्वाभिमान ही उसे बरज देगा......

शिरीष की माँ इस संकल्प-विकल्प में ही पड़ी रह गयीं और ललिता ने आव देखा न ताव, सीधे उनसे रक्त का संबंध स्थापित कर डाला!......

मगर उसकी अलग छोटी-सी कहानी है। बात यों हुई कि शिरीष की माँ को बहुत बुरी तरह का एनीमिया हो गया। कोई सात-आठ महीने पहले जब शिरीष ने ललिता को अपनी माँ का हाल बताते हुए कहा था कि उसे हलका-हलका बुखार आता है तब से उसकी तबियत बराबर गिरती जा रही थी। उसकी गिरती हुई हालत को देखकर शिरीष के मन में भी संशय न रह गया कि उसकी माँ का अंतर्द्वंद्व ही उसे खाये जा रहा है। माँ को बीच-बीच में लगता था कि अपने बेटे के सुख में वही बाधक है, वही उसके

तरुण जीवन में वह भयंकर रिक्तता भर रही है। कभी-कभी शाम को जब वह उसका उतरा हुआ मुँह देखती या रात बहुत चली जाने पर भी मेज पर झुके अनवरत काम करते देखती तो उसे छाती में एक धक्का-सा लगता, मगर इतने पर भी वह अपने-आपको इस विवाह संबंध के लिए तैयार न कर पाती थी; और इसी मानसिक संघर्ष ने उसे भीतर ही भीतर जैसे खोखला कर डाला था, उसका विश्वास पक्का होता जा रहा था कि उसके जीवन में अब कोई सत्व नहीं; कोई प्रयोजन है, इसका विश्वास भी ढीला पड़ चला था। इसी सब की परिणति थी शायद यह भयंकर एनीमिया...

अब सबसे बड़ा सवाल सामने था, माँ के शरीर में नया खून पहुँचाने का। शिरीष के खून की जाँच हुई, पता चला कि उसके खून से काम नहीं चलेगा। शिरीष ने सोचा, सत्येंद्र (सत्येंद्र शिरीष का अच्छा दोस्त है। उसकी पत्नी खूब स्वस्थ है) को पत्नी का रक्त दिलवाये। उसके रक्त की परीक्षा हुई तो फिर वही बात। अब बड़ा पेचीदा सवाल था, किससे कहे कि अपना आध सेर तीन पाव खून मेरी माँ के लिए दे दो। उसे बार-बार ललिता का खयाल आता था, मगर कुछ तो अपने स्वाभाविक संकोच के कारण और कुछ यह सोचकर कि अभी उसके तीन परचे बाकी हैं, वह ललिता से कुछ कह न पाता था। ललिता को जब पता चला कि सत्येंद्र की पत्नी का खून भी माँ के अयोग्य सिद्ध हुआ तो उसने जाकर शिरीष को पकड़ा: मैं आपके लिए इतनी बेगानी हो गयी हूँ कि इतनी बड़ी विपत्ति के समय भी आप मुझसे खुल नहीं सकते?

शिरीष ने कहा—नहीं, यह बात नहीं है ललिता, मुझे तुम्हारे बाकी परचों का खयाल था...

ललिता - मेरे परचे ज्यादा जरूरी हैं या आपकी माँ की जिंदगी?

शिरीष निरुत्तर हो गया।

संयोग से ललिता का खून माँ के बहुत योग्य सिद्ध हुआ, यद्यपि वह

'जात-कुजात' की स्त्री का रक्त था ! कोई तीन पाव खून लिया गया। ललिता ने खून देने को दे तो दिया, मगर वह भी कुछ बहुत हृष्ट-पुष्ट न थी। दूसरे दिन सबेरे जब वह परचा कर रही थी तो उसकी कापी के अक्षर नीली-पीली तितलियाँ बनकर उसकी आँखों के आगे उड़ रहे थे, दिमाग में एक हलका-सा कुहासा-सा था (जो नींद पूरी न होने पर भी अनुभव होता है) और उसके हाथों में स्थिरता की कुछ कमी थी। मगर उसका मन उल्लास से भरपूर था। उसने शिरीष, हाँ शिरीष की माँ को अपना रक्त दिया है !

ललिता का रक्त ही सेतु बन गया।

शिरीष की माँ को ठीक होने पर जब यह पता चला कि ललिता ने उन्हें रक्त दिया था, तो उनका मन कृतज्ञता से भर उठा, और स्नेह का जो ज्वार आया, उसमें ललिता के खिलाफ उनके मन की जो दीवारें थीं, वह धसकने लगीं।

इसके बाद यह कहानी कुछ दूर तक परियों की कहानी की तरह चलती है, यानी सारे अवरोधों को पारकर मन्मथ राजकुमार और अप्सरी राजकुमारी का मिलन आदि।

काफी धूमधाम से शिरीष और ललिता का विवाह हुआ। माँ का किसी बात से कभी विरोध था, यह भी किसी को पता नहीं चला।

मगर अंदर ही अंदर बातें उनके मन में आकार ग्रहण करती रहीं।

स्नेह के ज्वार में शिरीष की माँ के मन की जो दीवारें धसकने लगी थीं, वे शायद कभी धसकीं नहीं, क्योंकि वे मिट्टी की दीवारें नहीं चट्टान की दीवारें थीं और चट्टान, जब तक ज्वार है तब तक पानी में डूबी भले रहे, मगर पानी खिसकने के साथ-साथ वह अभिमानपूर्वक सिर उठाती हुई सामने आ जाती है और उसका दर्प के मद से खिलखिल करता हुआ मुखमंडल आँखों को झुलस देता है।

शिरीष की माँ ऊपर-ऊपर से संतुष्ट दीखने का प्रयास करती हुई शादी

के घर का कामकाज देख रही थीं और मेहमान स्त्रियों से अपनी बहू का परिचय करा रही थीं। उनकी बहू घूँघट नहीं काढ़े थी सही, उसकी नाक में कील भी नहीं थी, पैर में कड़ा-छड़ा भी न था, न पैर की उँगलियों में बिछिया ही—जो सब सुहागिन का, नयी बहू का अनिवार्य लक्षण है। मगर इन तमाम बातों को वह दूसरों के सामने कुछ हँसकर, कुछ व्यंग्य के स्वर में यह कहकर टाल देती थीं कि यह नया जमाना है और पढ़ी-लिखी लड़कियाँ यह पुरानी चाल-ढाल नहीं पसंद करतीं और ठीक भी तो है। उनकी बहू अच्छी पढ़ी-लिखी है, इसका उन्हें थोड़ा अभिमान भी था, मगर उससे अधिक दुःख इस बात का था कि ललिता वैसी बहू नहीं है जैसी कि उन्होंने अपने बेटे के लिए कल्पना की थी। और पहले ही दिन से तो गड़बड़ शुरू हो गयी। ललिता को बहुरिया के जिस रूप में देखने को उनकी आँखें तरस रही थीं और जिस रूप में मेहमानों के सामने उसे पेश करने की उनकी साध थी, वह तो ललिता का था नहीं। मेरी बहू कितनी सुन्दर है, मेरी बहू कैसी पढ़ी-लिखी है, इन बातों के पीछे उनका असंतुष्ट मन सांत्वना खोजता था, मगर पाता न था और पाता भी था तो क्षण-भर को। उनकी शिराओं में बहनेवाला युग-युग का संस्कार तो किसी और ही चीज की माँग कर रहा था।

कुछ ही दिनों और हफ्तों में ललिता के सामने उसका भविष्य स्पष्ट हो गया। उसे अब जिंदगी बितानी थी ऐसी स्त्री के साथ जिसका नाम ही सास था और जिसकी आयु थी लगभग दो या तीन हजार साल। यह स्त्री उससे अपने अधिकार की पूजा करवाना चाहती थी, चाहती थी पूर्ण आत्मसमर्पण, इसके पहले कि वह उसे अपने स्नेह का दान दे सके। शिरीष इस बात को अच्छी तरह समझता था। उसने माँ को समझाने की कोशिश की कि नयी दुनिया दान लेने और देने के संबंध को ही नहीं

मानती। शिरीष की माँ को लगता कि उनके अधिकार में बखरा लगाने के लिए यह छोकरी कहाँ से आ गयी। उनको यह बात बुरी लगती कि क्यों छोटे और उसकी बहू आमने-सामने बैठकर बात करते हैं, साथ घूमने जाते हैं, साथ खाते हैं। उनके संस्कारों की मनुस्मृति में तो यह बात कहीं न थी, उसके अनुसार तो निशीथ के गहन अंधकार में ही पति और पत्नी को एक-दूसरे से मिलना चाहिए।

इसी तरह जिंदगी का टूटा-फूटा इक्का कँकरीली, ऊबड़-खाबड़ सड़क पर चलता रहा। दिनों के हफ्ते बने, हफ्तों के महीने और महीनों के साल। धीरे-धीरे शिरीष की माँ को इस बात का भी पक्का विश्वास हो गया कि शिरीष उनकी बिलकुल परवाह नहीं करता, पहले वह उनके आराम-तकलीफ का बड़ा ध्यान रखता था, अब उसे अपनी बीबी से ही फुर्सत नहीं मिलती कि और किसी का हाल भी पूछे। और जितना ही उन्हें इस बात का विश्वास होता जाता कि छोटे उनकी उपेक्षा करता है उतनी ही उनके अंदर ललिता के खिलाफ कटुता भरती जाती। उन्हें अब इस बात में संदेह नहीं रहा कि ललिता चुपके-चुपके उनके खिलाफ पति का कान भरती है, माँ-बेटे को अलग करना चाहती है—सभी बुराइयों की खान यह ललिता! छोटे से उनको यही शिकायत थी कि वह क्यों अपनी बीबी के कहे में है। कहाँ से इस लड़की ने आकर मेरे बेटे पर ऐसा जादू कर दिया कि मेरा बेटा मेरा न रहा!

इसी ईर्ष्या और अविश्वास ने जीवन की एक-एक शिरा और उपशिरा में जहर के नाले दौड़ा दिये। पारिवारिक जीवन को विषाक्त बनाती हुई कटुता की अन्तःसलिला निरंतर बहती रही। विस्फोट कभी ही कभी होता था शायद तभी जब मन में घुमड़नेवाले भावों को और घोंटना संभव न होता। इसीलिए (अजब बात है कि) इस प्रकार के विस्फोटों के बाद कुछ राहत-सी मालूम होती और एकाध दिन जीवन कुछ कम दुर्वह जान पड़ता। मगर तभी फिर माँ का अन्तस्संघर्ष बाहर सतह पर आ जाता...

माँ—तुमसे यह उम्मीद न थी छोटे। तुम इतना बदल जाओगे, यह मैंने कभी न सोचा था।

शिरीष—अम्माँ, ऐसी बात न करो, यह तुम्हारा भ्रम है। मुझमें रत्ती-भर अंतर नहीं आया है।

माँ—तुम्हारे कहने से, आया है, बहुत आया है, इतना आया है कि अब तुम पहचाने नहीं जाते।

शिरीष—अब तुम्हीं बताओ, मैं इसका जवाब क्या दूँ? शक की दवा तो लुकमान के पास भी नहीं।

माँ—तुम मेरी रत्ती-भर परवाह नहीं करते। मैं जिऊँ चाहे मरूँ, तुम्हें इससे कोई सरोकार नहीं।

शिरीष—ऐसी बात कहकर मेरा जी मत दुखाओ अम्माँ—या जी दुखाना ही चाहती हो?

माँ—तुम्हारी जी दुखाने में मुझे मजा आता है न!

शिरीष—तब फिर ऐसी टेढ़ी-टेढ़ी बातें क्यों कर रही हो?...बताओ न, पहले मैं ऐसा क्या तुम्हारी पीठ में गुड़ मल देता था, जो अब नहीं करता।

शिरीष बिलकुल गधा है; उसे वाकई बात करने की तमीज नहीं है।

माँ—पहले तुम मुझसे कभी इतना इतराकर न बोलते थे।

शिरीष—शिष्टाचार की भाषा में तो मैं तुमसे बोल न पाऊँगा...

माँ—छोटे, मुझे इतना बेवकूफ न समझो कि मैं शिष्टाचार और असली प्रेम के फर्क को नहीं समझती।...मगर मैं तो यह देख रही हूँ कि तुम्हें मुझसे प्रेम ही नहीं रह गया, घड़ी-भर को मेरे पास बैठने का भी तुम्हें मौका नहीं मिलता...और मिले भी कैसे, दिन-भर तो उसी के पास बैठे रहते हो। न जाने कैसी तुम्हारी बातें हैं जो कभी खत्म ही नहीं होतीं।

शिरीष—अम्माँ, तुम कभी यह न समझोगी कि उस लड़की को भी साथी की जरूरत हो सकती है...

माँ—हम लोगों की शादी थोड़े ही हुई थी!

शिरीष—तब से दुनिया बहुत बदल गयी है अम्माँ!

माँ—सारी दुनिया मेरे ही घर में बदली है या कहीं और भी?

शिरीष—इसीलिए तो हर जगह यही झगड़ा चलता रहता है, हर घर में। मैं तो जिस-जिस को जानता हूँ उस-उसके यहाँ इसी तरह बाज़ी फँसी देखता हूँ।

माँ—तो दे दो न जहर की पुड़िया, सारा मामला ही सुलझ जाय एकबारगी...

शिरीष—अम्माँ, यह तो न भूलो कि हम बात को सुलझाने के लिए बैठे हैं। तुम उसे और उलझाती जा रही हो...

माँ—तुम तो बहुत सुलझा रहे हो...

शिरीष—फिर देखो वही तू-तू मैं-मैं होने लगी जिससे मैं बचना चाहता हूँ।

माँ—मुझे तो तू-तू मैं-मैं बड़ी अच्छी लगती है न!...और कहो बेटा, जो कुछ कहना हो सब कहो, अब तुम्हारी जबान पर लगाम लगानेवाला तो कोई है नहीं—

शिरीष—यह क्या अम्माँ, तुम ताक-ताककर मेरे मर्म पर तीर मार रही हो। इस तरह मुझे पीड़ा पहुँचाने से तुम्हें क्या मिलता है?

माँ—जब तुम बीते भर के थे तब तो मैंने तुम्हें पीड़ा नहीं पहुँचायी, अब पीड़ा पहुँचाऊँगी!

थोड़ी देर की शान्ति।

माँ—तभी मैंने क्यों न तुम्हारा गला घोंट दिया! अगर मैं जानती कि अपना ही लड़का इस तरह से अपना बैरी हो जायगा तो मुझे क्या कुत्ते ने काटा था जो अपना खून-पसीना एक करके तुझे पालती।

शिरीष ने हलके से मुसकराकर, वातावरण की कठोरता को कम करने

की कोशिश करते हुए कहा--वह तुम कैसे न करतीं। वह तो तुम्हारा कर्तव्य था।

माँ-- जी मत जलाओ छोटे, सब मेरे ही कर्तव्य हैं या तुम्हारा भी मेरे प्रति कोई कर्तव्य है ?

शिरीष—तुम्हारे प्रति मैंने अपना कौन-सा कर्तव्य पूरा नहीं किया ?

माँ-- तुम्हें अपनी उससे फुर्सत भी हो !

शिरीष—ओफ...अम्माँ !

फिर दोनों चुप हो गये।

माँ ने चुप्पी तोड़ी—सच कहती हूँ छोटे, मेरा दिल टूट गया है। मैंने कभी यह न सोचा था कि मुझे तुमसे ऐसा बर्ताव मिलेगा। मैंने तुमसे. अकेले तुमसे बड़ी आशाएँ लगायी थीं...

यह कहते-कहते शिरीष की माँ को रोना आ गया। उन्होंने रोते-रोते कहा—मेरा भाग तो उसी दिन फूट गया जिस दिन वे उठ गये।

शिरीष ने माँ के सिर को अपनी गोद में लेते हुए और उनके आंसू पोंछते हुए भारी आवाज में कहा—ऐसी बात तुम क्यों करती हो अम्मां... बाबूजी के न रहने पर अब तुम्हें सताना ही क्या मेरा काम रह गया है ?

शिरीष का मन असीम पीड़ा और मां के प्रति घनी करुणा से भर आया—

—और अकसर भर आया करता, जब-जब इस तरह की कोई स्थिति पैदा हो जाती। तब उसकी समझ ही में न आता कि वह क्या देख रहा है, यह कैसा महाभारत उसकी आंखों के आगे हो रहा है, किस नयी दुनिया के प्रसव की यह दारुण छटपटाहट है। एक अजीब भयानक तकलीफ से उसकी रगें टूटने लगतीं। प्रेम का यह कैसा ईर्ष्यालु वटवृक्ष है जिसकी छायातले कुछ भी पनपने नहीं पाता, सभी पेड़-पालो मुरझा जाते हैं ! यह प्रेम ही है

या और कुछ ?—यह संदेह भी कभी-कभी उसके मन में जागता, मगर जब उसकी निगाह अपनी मा के अश्रु-स्नात चेहरे पर जाती और वह उनकी आंसुओं में तैरती हुई आंखों में आंखें गड़ाता तो उसके मन में संशय न रह जाता कि है वह प्रेम ही। मगर शिरीष अब यह बात अच्छी तरह समझने लगा है कि इतना कह देना ही बस नहीं है, इसके बाद भी बहुत कुछ कहने और करने को रह जाता है और वहीं पर होता है भावनाओं का रक्तपात।

दो-चार महीनों में जरूर एक-दो बार ऐसी स्थिति पैदा हो जाती। तब पहले काफी कटुता का विनिमय होता, उसके बाद मां-बेटे दोनों के गले भारी हो जाते, फिर आंसू झरने लगते। फिर जी कुछ हलका हो जाता।

आंखों के सामने खड़े हुए आंसुओं के प्राचीर असली प्राचीर को चाहे क्षण-भर के लिए ढंक लें, मगर उसकी एक ईंट भी उनके हिलाये हिलती नहीं थी।

ललिता—मैं यहां से चली जाना चाहती हूँ।

शिरीष—क्यों ?

ललिता—मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि मैं तुम्हारे और तुम्हारी माँ के बीच अभिशाप की एक छाया बनकर नहीं आना चाहती।

शिरीष—तुम व्यर्थ यह बात सोच-सोचकर अपना जी दुखाती हो।

ललिता—नहीं शिरीष, मैं ठीक कहती हूँ। मैं जिस बात से डरती थी वही अब सामने आ रही है।

शिरीष—मगर इसमें इतनी विचलित होने की क्या बात है, यह तो जिंदगी का नियम है।

ललिता—ऐसा कैसा नियम, कितना भयानक ! भूलो मत शिरीष, कि

मैंने तब तक शादी के लिए हामी नहीं भरी थी जब तक माँजी की रजामंदी नहीं मिल गयी।

शिरीष—वह, ललिता, ऊपर-ऊपर की चीज थी।

ललिता—हाँ अब तो ऐसा ही लगता है, मगर पहले मैं यह न जानती थी।

शिरीष—वह बात तो अब गयी—आगे क्या हो, इसके बारे में कुछ सोचा है?

ललिता—मैं तुम्हारे बिना रह सकती हूँ। मैं यहाँ से चली जाऊँगी।

शिरीष—पागलपन की बात मत करो ललिता! तुम भी जानती हो कि यह कोई रास्ता नहीं है।

ललिता—मुझे तो और कोई रास्ता नहीं सूझता।

शिरीष—मगर वही रास्ता तो हमें ढूँढ़ना है। यह बात तो तुम्हें मान कर चलना होगा ललिता, कि हम अगर परस्पर विवाह-संबंध में बँधे हैं तो वह इसलिए नहीं कि आज की-सी परिस्थिति आने पर एक-दूसरे को अपने जीवन से उसी तरह निकाल फेंकें जिस तरह डाकुओं से घिर जाने पर बुद्धिमान व्यक्ति अपने सर की भारी गठरी राह किनारे फेंककर अपनी जान बचा लेता है। मैं तुमसे कहूँ कि तुम मेरे जीवन की वह भारी गठरी नहीं हो...और मुझे भी तो इतना अहंकार कर लेने दो ललिता!

ललिता ने शब्दों से नहीं, अपनी बड़ी-बड़ी भावगंभीर, तरल आँखों से प्रतिश्रुति दी।

तब शिरीष ने कविता के आवेशयुक्त स्वर में नहीं, धीरे-धीरे, एक-एक शब्द को जैसे तौलते हुए कहा—ललिता, तुम मेरे प्राणों की दीप्ति हो, मेरे पैरों का वेग हो, मेरे बाहुओं का बल हो, मेरी जीवन-सहचरी हो, जिस भविष्य को हमारी अपेक्षा है, उसमें हम दोनों साथी हैं जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता।

ललिता—मैं तुम्हारी ये बड़ी-बड़ी कविता की बातें नहीं समझती। मैं

तो बस यह जानती हूँ कि आवश्यकता पड़ने पर मैं तुम्हारे जीवन से तुरत अलग हो जाऊँगी...पूरी सद्भावना के साथ। इस बात का मैं तुम्हें विश्वास दिलाना चाहती हूँ, केवल तुम्हें क्योंकि उस सुख के लिए मैं तुम्हारी ऋणी हूँ जो मुझे तुमसे मिला है !

शिरीष— ऐसी बात मत कहो ललिता ! जिस भविष्य निर्माण के प्रति हम वचनबद्ध हैं, उसके संग यह विश्वासघात होगा अगर हम मोह में पड़-कर दो जीवों को कलह के इस अंधकूप में घुटकर मर जाने दें।......नहीं ललिता वह न होगा—वह नहीं हो सकता...वह कटुतर आत्मघात है।

दूसरे दिन प्रातःकाल शिरीष ने माँ के चरणों में झुककर प्रणाम किया और कहा—अम्माँ, मुझे इस बात का दुःख है कि हम तुम्हारे जीवन के शेष दिनों में तुम्हारी सेवा न कर सके...कर सकना चाहिए था, मगर शायद हम सभी विवश थे। लेकिन अम्माँ इस बात का मैं तुमको विश्वास दिलाना चाहता हूँ...मगर जाने दो। अच्छा, अब अंतिम बार बोल दो कि जीवन में हम जहाँ भी रहेंगे, तुम्हारे आशीर्वाद की छाया हमारे ऊपर रहेगी।

माँ के आँसू बह रहे थे। उन्होंने रुँधे कंठ से कहा—तुम मेरे बच्चे हो। मेरा आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ है।

तब ललिता माँ की चरणधूलि ले रही थी।

शिरीष ने कहा—ललिता ! उठो, देर न करो। गाड़ी का वक्त हो गया है।

शिरीष की आँखों में भी आँसू छलक रहे थे और उसकी आवाज भारी थी।

माँ दरवाजे में खड़ी थी और शिरीष के पैर रुक-से रहे थे। उसके पैरों में आँसुओं की जंजीर थी, ममता की जंजीर थी......

...मगर जंजीर थी, और भविष्य दूर शिखर पर से, घने काले, पानी

से भरे हुए बादलों के-से गंभीर खिंचे हुए स्वर में उसे पुकार रहा था—आऽओऽऽ आऽऽओऽऽ आऽऽओऽऽऽ वैसे ही जैसे गोधूलि-वेला में वन से लौटता हुआ चरवाहा दूर-दूर चरती हुई अपनी गायों को इकट्ठा करने के लिए टेरता है।

भविष्य के आह्वान का स्वर शिरीष के कानों में असंख्य बादलों का गर्जन बनकर गूँज रहा था—आक्रोश, मोह और करुणा के मिले-जुले स्वर भी उसमें खो गये।

द्विधा के मुहूर्त का अन्त हुआ। चल देने का क्षण सम्मुख था।

दोनों ने एक बार फिर हाथ जोड़कर माँ को प्रणाम किया और पैर आगे बढ़ाये।

अंधकार के रंग

पुलिस का बैंड। फिर मिलिटरी का विलायती बैंड। राग और सुर की किताब पर आँख जमाये हुए मिलिटरी के जवान। किसी खान्दानी रईस के हवाली-मवाली काँधों पर भरमार या दुनाली बन्दूक रक्खे, कुछ की कमर में तलवार लटकती, कुछ के हाथ में बल्लम। हलका-सा गुलाबी रंग लिये चमकदार सफेद घोड़ों की जोड़ी, नयी रोग़न की हुई चमाचम फ़िटन जिसमें देखकर कोई चाहे तो अपने बाल ठीक कर ले। फूलों से नयी दुल्हन के समान सजी हुई। शायद इसी में दूल्हा हो। मगर नहीं इसमें दूल्हा न होगा, दूल्हे का कोई भाईबन्द होगा, दूल्हा तो वह देखो हाथी पर बैठा है, सोने का छत्र लगाये। उसके सर पर देखते नहीं कितना ऊँचा-सा मौर है। उसके सँग उसका छोटा भाई भी तो शहबाला बना बैठा है, कैसा गावदी सा है (पता नहीं ये शहबाले सदा इतने गावदी क्यों दिखते हैं! मैं भी एक बार अपने एक भाई की शादी में शहबाला बना था...) एक से एक शानदार मोटरें, शेवरलेट और मर्क्युरी और हडसन और बिउक और डिसोटो, चाकलेट के रंग की और उन्नाबी रंग की और नीले रंग की और ग्रे रंग की। धुली-पुँछी, चमकती हुई—

तड़तड़ तड़तड़ और कड़क कड़ककर झय्यम झय्यम की कानों को फाड़ देनेवाली असह्य बोदी आवाज......

शादी के दर्जनों खिलौने जिनमें अब गाँधीजी के पुतले को भी जगह मिल गयी, उन अजीबोग़रीब इन्सानी शकलों, कानिस्टिबिलों, 'बालिस्टर साहिब' और चुड़ैल जैसी नारी-मूर्तियों के बीच......

गैस के हण्डे जिनमें आधे अच्छी तरह बलते हैं और आधे न जाने किसके नाम को रोते हैं......

सरों पर रँगे-चुँगे मटके लिये हुए औरतें (जिनमें किसी पर दो-चार हाथी बने हैं, किसी पर हाथी और घोड़े दोनों, किसी पर दो बड़ी-बड़ी मछलियाँ—हे मीनकेतु !—, किसी पर गनेशजी और किसी पर कोई हट्टा-कट्टा, नंगधड़ंग, मुछाड़िया पहलवान, मूँछ पर हाथ रक्खे एक रमणी को गोद में लिये बैठा है—ज़रा-सा रद-बदल कर देने से यही शङ्कर-पार्वती का जोड़ा हो जायगा !) ये मटके शादी की बिलकुल जरूरी चीज़ें हैं यानी एक बार दूल्हे के बिना शादी भले हो जाय इन मटकों के बिना नहीं हो सकती, इनके पीछे समधियों में गहरी झड़पें हो जाया करती हैं।

सफेद कोट-पतलून पहने और जहाज़ियों की-सी काली टोपी लगाये बैंडवाले। रेशमी कुर्ता और धोती पहने हुए, किश्तीनुमा टोपी लगाये हुए; चूड़ीदार पाजामा और रेशमी या सफेद अचकन पहने, साफ़ा बाँधे ; ढीला-ढाला रेशमी पतलून और वही ढीलाढाला रेशमी कोट और रात को भी सोला हैट लगाये हुए या फेल्ट हैट से कान तक ढँके हुए या उसे गौरैया की तरह चुन्दी पर बिठाले हुए ; अपनी-अपनी औक़ात के हिसाब से अच्छा खस या सस्ता सेंट रातरानी या ओटो दिलबहार लगाये और अपने कपड़ों को उसी से बसाये बराती ;

और धुँधली-सी फ़ोर्ड वी-एट में बैठा हुआ दूल्हा।

बीस-पच्चीस औरतों का एक झुंड सड़क पर गाता-बजाता चला जा रहा है। एक टेसू के रंग की लाल धोती पहने है, एक गुलाबी रंग की धोती पहने है, एक बैंगनी रंग की धोती पहने है, एक नीले रंग की धोती पहने है, एक पीले रंग की धोती पहने है। इनमें दो एक बुड्ढी हैं, आठ-दस तीस और चालिस के बीच हैं और वही आठ-दस छोकरियाँ हैं, जिनमें पन्द्रह-सोलह की तरुणियों और दस-बारह की लड़कियों दोनों ही का शुमार है। कुछ का घूँघट बहुत लंबा है यानी नाक तक, कुछ का बहुत कम है यानी माथे के ऊपरी आधे भाग तक एक तरह से सिर्फ बालों को ढँके हुए, मगर ज्यादातर औरतों का घूँघट मध्यम मार्ग पर है यानी पूरे माथे को ढँक कर कोई पौन इंच आगे को निकला हुआ।

ये औरतें पूरे वक्त गाती रहती हैं। इनमें गानेवाली, दमदार औरतें दो तीन होती हैं, बाकी साथ देने के लिए और रास्ता काटने की गरज से बुदबुदाया करती हैं। गाना कोई हो, गानेवालियाँ कोई हों, राग और लय कोई हो, ये गाने सदा एक से सुन पड़ते हैं, वह एक खास साँचा है जिसके अन्दर ये हिम्मती, जीवटदार औरतें हर गाने को शान के साथ कसकर उसे एक तरह से अपना कैदी समझते हुए गा चलती हैं, और गाते समय जैसे पूरे वक्त गाने को टिटकारी मारती जाती हों—अब कहाँ जाओगे बच्चू, हमने तुमको कसकर बाँध लिया है......

...और वह ठीक ही कहती हैं क्योंकि उनका मतलब अपने सुर की, मजबूत, कभी न टूटनेवाली रस्सियों से होता है!......इन गानों का साथ देते रहते हैं दो झांझ, दो मजीरे और एक आदमी के पेट पर हाँडी की तरह लटके हुए दो तबले। इनमें बजानेवालों को अपने फ़न में बहुत कमाल हासिल होता है, क्योंकि यक़ीन मानिए उन गानों का साथ देना कोई

हँसी खेल नहीं है ! मालूम होता है कि परमात्मा ने एक ही अत्यन्त स्फूर्तिपूर्ण विदग्ध क्षण में इन गानेवालियों और इन बाजेवालों की सृष्टि की थी। आगे आगे बाजेवाले और पीछे-पीछे गानेवालियाँ, दोनों के बीच एक पन्द्रह-सोलह साल का छोकरा दूल्हा, पीली धोती और नारंगी रंग का कुर्ता पहने, पैर में कड़ा और चमरौधा जूता, तमाम शरीर में हल्दी पुती हुई, गले में एक अँगौछा। दूल्हे के अँगौछे, और आगे पीछे ऊपर नीचे चारों तरफ से अच्छी तरह ढँकी हुई पूर्ण अवगुंठनवती ग्यारह-बारह वर्षीया दुल्हन की चुनरी में गांठ लगी हुई...

चित्रा, हमने तो यह सब कुछ नहीं किया था। हमने तो केवल एक दूसरे के गले में महकते हुए बेले डाले थे—पर कहाँ, तुमको तो उस वक्त न जाने क्या हो गया था कि तुम आँखें ऊपर न उठा सकीं और माला भी तुम्हारे हाथ में पड़ी रह गयी......तुम्हारी पलकें नमित भले रही हों मगर मैं तो जैसे तुम्हारी बड़ी-बड़ी आँखों के रास्ते ही तुम्हारे हृदय में बैठकर सब कुछ देख रहा था......हमारी आत्माओं ने नग्न होकर एक दूसरे का आलिंगन किया था ; वहाँ झूठी कुलीनता और आभिजात्य की रक्षा करनेवाले सामान्य परिच्छद् के लिए भी जगह न थी।

आज तो मैं केवल यह सोच रहा हूँ कि तुम्हें पाकर मैं कितना सुखी हूँ, कितना चमत्कृत। मेरे मरुस्थल जैसे जीवन में तुम ठंडे पानी के एक झरने की तरह कहाँ से आ गयीं। तुम अगर न आयी होतीं तो आज मैं क्या होता कहाँ होता : तुम नहीं जानतीं, प्यास से मेरे गले में काँटे पड़ गये थे। तुमने जिस पल मेरे जीवन की देहली लाँघी मेरा अंदर-बाहर सब कुछ, रोम-रोम शिरा-शिरा जैसे नहा गयी, प्रचण्ड आतप में जैसे वट के वृक्ष की छाँह मिली। मैं पिपासाकुल था। मुझे नींद न आती थी। तुमने मेरी

प्यास बुझायी और अपनी मैत्रीपूर्ण अँगुलियों के मलयस्पर्श से मेरी आँखों में नींद ला दी और जब मैं जागा तो एक नया ही आदमी था।

चित्रा, उस नये आदमी का प्रणाम लो क्योंकि तुम ही उस नये आदमी की प्राणभार्या, उसकी माँ हो।

पर आज इस शुभवेला में तुम मेरे पास नहीं हो या मैं तुम्हारे पास नहीं हूँ तो मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है, उदासी उसे नहीं कह सकते, वह अभाव की चेतना है, जैसे सब कुछ है मगर वह एक चीज नहीं है जिससे सब चीजें हैं, जो जीवन का बीज है......क्या तुमको बतलाने की जरूरत है कि इस घर के कक्ष कक्ष में, कोने कोने में आलिंगनपाश में बँधी हुई हमारी स्मृतियाँ सो रही हैं ? तुम भी जानती हो यह घर हमारा अभिसार-निकुंज रहा है। इस घर में हमारी नवल इच्छाएँ लताओं की तरह, हरी दूब की तरह फैली रही हैं—

लेकिन चित्रा, लताओं और हरी दूब के विमुग्ध उल्लास को मूर्छित और अभिशापित करनेवाले रूढ़ियों के खूसट, लिजलिजे गिरगिटान भी सदा वहीं दौड़ लगाते रहे हैं......

वह कौन-सा अभिशाप था जो सदा एक प्रेत की छाया की तरह हमारा पीछा करता रहा, जिसकी तृषा थी कि वह हमारे बीच एक दुर्लंघ्य दीवार की तरह खड़ा हो जाय, जिसने कभी हमको खुलकर मिलने नहीं दिया ? वह कौन-सा अभिशाप था चित्रा, जिसने चुपके-चुपके हमारे जीवन का बहुत-सा रस सोख लिया, जिसने संकेत से प्रेम को पापाचार कहा और जैसे उसके यह कहते ही प्रकाश के लोक से स्खलित होकर प्रेम का राजहंस जब अंधकार का चमगादड़ बन गया......

चित्रा, उस प्रेत की छाया को हम दोनों ही पहचानते हैं। उसकी कठोरता को गलाने के लिए हमने क्या नहीं किया, कौन-सा मूल्य नहीं चुकाया, लेकिन अंधकार के वे मोटे-मोटे खंभे नहीं गले, भविष्य की ओर ताकती हुई हमारी आँखों का पथ वे रूँधते ही रहे। चित्रा, सुना तुमने अंधकार के वे मोटे-मोटे खंभे नहीं गले क्योंकि वह अंधकार कोई व्यक्ति न था यद्यपि वह व्यक्ति का रूप धरकर आया था। हजारों साल की जड़ता की तमिस्रा ही वह नेत्रहीन अंधकार थी। शायद इसीलिए चित्रा, अंधकार के वे मोटे-मोटे खंभे नहीं गले......

उस अंधकार की शृगाल-दृष्टि हमारे हृदय के मांस पर थी। वह हमारी आत्मा का हनन माँगता था। जड़ पुराचीन नवीन आस्थाओं को अपनी आँखों के आगे कीचड़ में लिथड़ते देखना चाहता था। चित्रा, मेरा मन संतोष और आह्लाद से भरा हुआ है कि हमने वीरतापूर्वक उसकी इस धृष्ठता का सामना किया और अपनी निष्ठा की पताका झुकने नहीं दी।

प्रिये, आओ इस पुनीत क्षण में आज हम फिर प्रतिज्ञा करें कि इसी प्रकार अंधकार को रौंदते हुए सतत प्रकाश की ओर बढ़ते जायेंगे। यद्यपि चित्रा, मैं समय से पहले बूढ़ा हो चला हूँ, दिन बीतते जा रहे हैं मेरी उम्र बढ़ती जा रही है जैसे मेरे पास अपनी आयु के रूप में दिनों का जो कोष है वह अक्षय नहीं है और मैं उसे तेजी से खर्च करता चला जा रहा हूँ और जल्द ही मेरे पास फिर कुछ न बचेगा और मेरा अन्त आ जायेगा और मैं बिना कुछ किये यहाँ से चला जाऊँगा......पहले मन में ऐसी कोई बात न आती थी चित्रा, लेकिन अब न जाने क्यों अपनी जिन्दगी के इस खेल-तमाशे का अन्त मुझे दिखने-सा लगा है। वह शायद इसलिए हो कि अब जीवन में दूब की वह लहकती हुई अनन्त हरीतिमा या आम्र

मंजरी का वह अक्षय सौरभ नहीं है जिसे यौवन कहकर हमने पहचाना था.........

...लेकिन चित्रा, अभी मैं बूढ़ा नहीं हुआ हूँ, अभी अंधकार से जूझने के लिए मेरे बाहुओं में और मेरे वक्ष में असीम शक्ति है, शक्ति का अजस्र निर्झर है, निर्झर का चिर आवेगमय उच्छल प्रवाह है।

गोडसे के नाम खुली चिट्ठी

डूबती हुई हिन्दू जाति के अकेले तारनहार, आपको सहस्र बार प्रणाम है !

आप बड़े आश्चर्य में पड़ेंगे कि आपके नाम एक अनजान आदमी का यह पत्र कैसा ! आपका आश्चर्य बिलकुल स्वाभाविक है क्योंकि मैं आपके लिए बिलकुल अनजान हूँ। असल बात यह है कि मैं बहुत छोटा-सा आदमी हूँ और अगर आप मुझे नहीं जानते तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। मेरा आपको यह पत्र लिखना छोटे मुँह बड़ी बात है, लेकिन मैं जानता हूँ कि आपके विषय में इस समय मेरे हृदय में जो ज्वार उठ रहा है, वह प्रचलित रीति-रिवाजों के कगार तोड़े बगैर मानेगा नहीं।

पूना से बहुत दूर एक बड़ा पवित्र तीर्थ है काशी। आपको काशी का माहात्म्य समझाने की भला क्या जरूरत। आप तो, मैं समझता हूँ, बड़े पक्के हिन्दू होंगे, दिन में कई बार संध्या करते होंगे, आपके कई मंत्रों में काशी का नाम आता होगा। इसके अलावा, आपसे ज्यादा कौन जानता होगा कि यहाँ पर आपके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का बड़ा प्रताप है।

इस तरह काशी के तो अब और चार चाँद लग गये हैं। पहले वह केवल शान्तिप्रिय हिन्दुओं का तीर्थ था, अब संघर्षप्रिय हिन्दुओं का भी तीर्थ हो गया। इस बात का श्रेय आप के संघ को ही है।

इसी काशी के पास एक छोटा-सा गाँव है जिसका नाम इतना अटपटा है कि मैं उसको अपने ही तक सीमित रखना चाहता हूँ। इस अटपटे नाम के अलावा इस गाँव में अपनी कोई विशेषता नहीं—हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में से ही एक गाँव यह भी है, अशिक्षा, गरीबी और आपसी लड़ाई-झगड़े का एक बड़ा-सा घूर। इस गाँव में एक प्राइमरी स्कूल है जिसमें मैं मास्टर हूँ। नंग-धड़ंग, काले-पीले, टेढ़े-सीधे पचास लड़कों को ककहरा, बारहखड़ी, ढूँचा-पवन्ना और सत्रह तक का पहाड़ा रटाना मेरा काम है। मेरा नाम जानकी प्रसाद है। यह है मेरा परिचय।

और आप ? आपके परिचय की तो कोई जरूरत नहीं। अभी हाल में आपने जो महान् कार्य किया है, उसने आपके नाम को हिन्दुस्तान के कोने-कोने में पहुँचा दिया है। आप तो पुलिस के कठघरे में बन्द हैं, इसलिए आपको पता न होगा कि आज हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा नाथूराम विनायक गोडसे के नामको जानता है—यह बात बिलकुल अलग है कि यह नाम लेते समय उसकी आकृति में कहीं कोई वक्रता जरूर आ जाती है, जैसे यकायक नस खिंचने का तनाव। आप का नाम लेते समय, मैंने देखा है, लोग अक्सर ऐसा मुँह बनाते हैं जैसे उनका मुँह किसी अजब विषैली घृणा से जल जाता हो, या जैसे उनके मुँह में आपका नाम नहीं परनाले का कीचड़ हो। लोग आपका नाम सुनकर थू-थू करते हैं (आप के नाम में थू है भी तो !) मगर उससे क्या, लोग तो स्वभाव से ही डाही होते हैं। आप का नाम पलक मारते देश के कोने-कोने में फैल गया, लोग इसी डाह के मारे आप से घृणा करते हैं। मैं अब यह रहस्य समझ गया। इतनी जल्दी भला किसका नाम इस विशाल महाद्वीप में फैलता है। गान्धीजी को अपना नाम दुनिया भर में फैलाने के लिए

आधी शताब्दी से ऊपर अक्लान्त कर्म करना पड़ा और आप ऐसे अक्ल-मन्द कि आपने वही काम आनन-फानन कर डाला—आखिर रिवाल्वर से चार गोलियाँ दागने में समय ही कितना लगा होगा, पलक भी तो न झपी होगी आपकी वर्ना क्या ऐसा अचूक निशाना बैठता।

अब आप का नाम एक सिल की तरह जमाने की छाती पर हमेशा-हमेशा के लिए बैठ गया। जब तक सृष्टि में गान्धी के नामलेवा रहेंगे तब तक आप का नाम भी इतिहास के पन्नों में से डंक मारता रहेगा। आज से दो या तीन या पाँच हजार साल बाद जब कोई किसी अजायब घर में गान्धीजी का अस्थि-कलश देखेगा, तब वह आपका नाम भी अवश्य लेगा। मुझे सचमुच आपसे ईर्ष्या होती है, आपने कितने सस्ते दामों में अमरता खरीद ली! ब्लैकमार्केट में और चीजें चाहे जितनी महँगी हों, अमरता तो मिट्टी के मोल (या तमंचे की चार गोलियों के मोल!) मिलती है। विश्वास कीजिए, मुझे आपसे ईर्ष्या होती है! उस समय कोई यह न कहेगा कि जिन गाँवों का उद्धार करने के लिए गान्धीजी सदा प्रयत्नशील रहे, उन्हीं में से एक गाँव में जानकीप्रसाद नाम का एक मुदर्रिस रहता था जो आदमी बुरा नहीं था, जो न तो किसी की गिरह काटता था और न किसी पर तमंचा चलाता था। इतिहास जानकीप्रसाद को भूल जायगा मगर आपको सदा याद रखेगा—एक दुःस्वप्न की ही तरह सही, मगर याद रखेगा। और हाय रे अभागा मैं, मेरा नाम मेरे साथ ही सदा के लिए मिट्टी में मिल जायगा!...मगर मैं बड़ा संतोषी जीव हूँ। सोचता हूँ, भगवान् ने मेरे भाग्य में जो कुछ लिख दिया है, उसके ऊपर उँगली उठाने का मुझे कोई हक नहीं।

एक बात आपको बताऊँ, पता नहीं आपको कैसी लगेगी। मेरे एक साथी जो कल तक नाथूराम थे, आज नाथूराम नहीं हैं। उन्होंने कल रात (कल शाम को ही खबर यहाँ मेरे गाँव में भी फैल गयी थी)

ही अपना नाम बदल दिया। मुझे उनकी यह बात कुछ समझ में नहीं आयी। मैंने उनसे कुछ खास बहस नहीं की, लेकिन जो थोड़ी बात-चीत की उससे यही पता चला कि वह इस नाम से अब डरने लगे हैं जैसे उसमें किसी भीषण महामारी के कीटाणु छिपे हों या जैसे उसमें छिपकली का-सा गिलगिला कुछ हो। मुझे तो अब विश्वास हो गया कि अब कोई माँ कभी अपने बच्चे का यह नाम न रखेगी। मुझे अफसोस यही है कि आप जिस दिन फाँसी पर टाँग दिये जायेंगे और चूहे की तरह दम तोड़ देंगे, उस दिन इस नाम का आदमी और यह नाम दुनिया के पर्दे पर से सदा के लिए मिट जायगा......

......मगर साँप की आँख की तरह आपका नाम सदा चमकता रहेगा।

*

मैंने आपको कभी नहीं देखा, मगर मैं आपको पहचानता हूँ। हजार आदमियों के बीच भी मैं आपको ढूँढ़ सकता हूँ। आपकी शक्ल मेरी आँखों के आगे नक्श है गो कि मैंने आपको पहले कभी नहीं देखा।

∵ तमाम महाराष्ट्रों की शकल एक-सी होती है ;

∵ तमाम हत्यारों की शकल एक-सी होती है ;

∴ एक महाराष्ट्र हत्यारे की शक्ल एक ही ढंग की हो सकती है; उसमें कहीं कोई गड़बड़ी की गुंजाइश नहीं है। यों तो जैसा मैंने अभी कहा, तमाम हत्यारों की शकल एक-सी होती है। वे किसी युग में किसी देश में पैदा हों, उनकी शकल एक होती है। उनके चेहरों की गढ़न अलग-अलग होती है, मगर चेहरा एक होता है। पता नहीं, वह क्या चीज है जो उन चेहरों को एक-सा कर देती है। वह शायद बुजदिली और धोखे का एक घोल है जिसकी एक बड़ी मोटी तह तमाम हत्यारों के चेहरे पर पुती होती है।

अब आइए, आइने के सामने खड़े हो जाइए (मगर वहाँ कठघरे में आइना कहाँ,—कि है ?) मैं आपही को आप की हुलिया बतलाता हूँ।

उस घोल के नीचे (जो आपके चेहरे पर पुता है) एक बड़ी मोटी खाल है जैसी बनैले सुअर की होती है। मगर नहीं, मैं गलत कह गया। जंगली भैंसे और बनैले सुअर के संयोग से अगर कोई जानवर पैदा हो तो शायद उसकी खाल में वह बात पैदा हो जो आपकी खाल में है। मुझे लगता है कि भाला अगर आपके भोंका जाय तो उसकी नोक टूट जायगी। आपका रंग गेंहुआ होगा, गेंहुअन साँप की तरह। आपकी नाक बड़ी मोटी-सी फूली हुई होगी। आपके ओठों की मुटाई तीन चौथाई इंच से कम नहीं हो सकती। आपका सिर ऊपर से कुछ चपटा-चपटा-सा होगा, और कील की तरह ठोस। आपका कद नाटा होगा।

अगर मैंने कुछ गलत लिखा हो तो नाराज मत होइयेगा। मैं एक बहुत छोटा-सा आदमी हूँ एक गँवइया प्राइमरी स्कूल में मास्टर हूँ, गलती अगर कर जाऊँ तो माफी का हकदार हूँ। इसलिए कहता हूँ कि नाराज मत होइएगा। जवाब के साथ में अपना एक फोटो भी भेजिएगा, मैं उसे घड़ियाल के चमड़े से मढ़ाकर रखूँगा क्योंकि मैं आपके शौर्य का कायल हूँ। लोग लाख आपसे नफरत करें, आपकी बुराई करें, मैं तो सदा आपकी बहादुरी का दम भरूँगा।

अरे गोडसे की बुराई करनेवाले तंगनजर लोगो, यह कोई आसान काम नहीं है कि एक अस्सी बरस के बूढ़े को जो किसी तरह अपनी हिफाजत करने को गुनाह समझता है, जो दूसरों को भी अपनी हिफाजत नहीं करने देता क्योंकि आपके प्यार के अलावा वह और कोई कवच नहीं चाहता, एक अस्सी बरस के बूढ़े को जो सदा भीड़ में है और जिसे अपना प्राण संकट में डालने में रस आता है, जो इतना बड़ा जिद्दी, सनकी, बेवकूफ और सदियों में एक बार पैदा होनेवाला युगपुरुष है—ऐसे आदमी को

गज भर की दूरी से गोली मार दी जाय। महाराष्ट्र जाति की रगों में शिवाजी का रक्त बहता है, झाँसी की रानी और तात्या टोपे का रक्त बहता है...मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि यह हत्या कोई आसान काम नहीं है, यह मामूली आदमी के बस का रोग नहीं है। और भाई, आपने तो साहस की हद ही कर दी। आपने पहले अपने शिकार के पैर की धूल माथे पर चढ़ायी (हत्या की यह ऋचा आपने किससे सीखी ?!) और फिर दनादन चार गोलियाँ उस बुड्ढे के शरीर में यों उँडेल दी जैसे मोटर में पेट्रोल उँडेला जाता है ! सचमुच, यह अपूर्व साहस का काम है।

मगर यों ही जिज्ञासावश एक बात पूछता हूँ—रिवालवर चलाते समय आपके हाथ नहीं काँपे तो क्या पैर की धूल लेते समय भी नहीं काँपे ?

बुड्ढे का तो अब काम तमाम करना ही था......

...हिन्दुओं की रगों में खून नहीं पानी बहता है जो लाखों की तादाद में मौत के घाट उतारे जाकर, लाखों बहूबेटियों की इज्जत गँवाकर, अपनी आँखों के आगे मुसलमान गुण्डों के हाथों उनका सतीत्व लुटते देखकर, अपना घर-बार, माल-मता सब कुछ गँवाकर भी वे इस खूसट बुड्ढे की बकवास सुनते हैं !...(तालियाँ)

पूना में बैठे बैठे जहाँ पंजाब और उत्तर भारत की इन विपत्तियों की आँच भी नहं पहुँची, आप जो इतने आवेशपूर्ण उत्साह में भर उठे कि वह काम कर डाला जिसके लिए किसी की हिम्मत न पड़ती थी, इससे पता चलता है कि आप सचमुच कितने भावुक प्राणी हैं। पूने की स्वास्थ्यवर्द्धक हवा में बैठकर पंजाबियों के चर्चे से अपनी नींद खराब कर लेना और फिर उन्हीं के खयाल में डूबे रहना दिखलाता है कि आप सही मानों में

लेखक हैं। मामूली लोग तो पंजाब के दर्द की कहानी एक कान से सुनते और दूसरे कान से निकाल देते हैं ; यह तो आप जैसा ही आदमी था जिसे पंजाब की घटनाएँ एक मोटे बबूल के काँटे की तरह सीने में जाकर चुभ गयीं। मैं जानता हूँ, अपने पंजाबी भाइयों की हमदर्दी में आपने एक भी वक्त खाना नहीं छोड़ा क्योंकि आपको उनका बदला लेने के लिए ताक़तवर बनना था। मैं यह भी जानता हूँ कि पंजाब से भागी हुई कुछ युवतियाँ जो पूना पहुँचीं उनको आपने बिलकुल अपना बनाकर रखा और उनकी जवानी को भी प्यासी नहीं मरने दिया ! उन्हीं की तकलीफ़ों और दर्द भरी कहानियों ने आपकी नींद छीन ली और फिर आपने उनका बदला लेकर, पंजाब के हिन्दुओं और सिखों की बरबादी का बदला गान्धीजी से लेकर आपने दिखा दिया कि भारत अभी भी भौगोलिक और ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक है।

आखिर को कोई कहाँ तक उस बुड्ढे की बकवास सुनता—हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलकर रहना चाहिए...निरी बकवास ! ऐसा भी कहीं होता है। साठ पर ही अक्ल सठिया जाती है, बुड्ढा तो अब अस्सी का था। वह दिन गये जब हिंदू और मुसलमान मिलकर रहते थे। अब बना तो लिया मुसट्टों ने अपना पाकिस्तान, जाते क्यों नहीं साले वहाँ, नाहक़ क्यों पड़े हैं यहाँ ? यहाँ उनके लिए जगह नहीं है। सीधे से नहीं जायेंगे तो टेढ़े से जायेंगे। हिन्दुस्तान हिंदुओं का है। हम हिंदुस्तान में हिंदू राज बनायेंगे। हिंदू धर्म की जय। गान्धी पाकिस्तान का दलाल है। गान्धी मुसलिम गुंडा है। इस युग का रावण है। उसका वध करना होगा......

आप जो कहते हैं ठीक ही होगा। मगर मैंने अपनी आँख से जो कुछ

देखा है. अपनी छोटी अक्ल से जो कुछ समझा है, वह आप तक पहुँचाना चाहता हूँ। कुछ इस खयाल से नहीं कि आप पर उसका कुछ असर होगा, (मैं इतना भोला नहीं हूँ!) बल्कि इसलिए कि मेरा जी कुछ हलका हो जायगा।

मैंने अपने गाँव में देखा है कि गान्धी टोपी का जोर होने के पहले लोग लाल पगड़ी देखकर यों काँपते थे ज्यों साँप को देखकर मेंढक। लोग झट से खटिया पर से उठ जाते थे, बड़ी आवभगत करते थे और कान लगाकर उसकी बात सुनते थे मानों वह भगवान का भेजा हुआ दूत हो। उसे खुश रखने के लिए घी-दूध से उसकी पूजा भी करते, अकसर नकदी भी देते और अगर कोई लाल पगड़ीवाला गाँव की किसी लड़की को एक बार दाग भी लगा जाय तो उसे भी अकसर चुपचाप बर्दाश्त कर लेते या कुछ ले-देकर रफा-दफा कर देते। आपको मैं क्या बताऊँ, मूरख आदमी हूँ, गान्धी का जोर होने के पहले गाँव में लाल पगड़ी का क्या रुतबा था। यह गान्धी टोपी का ही जोर था कि गाँववालों के दिल से लाल पगड़ी का डर गया, कलक्टर और जंट-मजिस्ट्रेट का डर गया, जमींदार और सीतला कारिन्दा का डर गया......

*

मैंने सुना है कि जब बापू के हत्यारे की खोज हो रही थी, तब आपका नाम सर्वसम्मति से पास हुआ था। आपने काम को पूरा करके दिखा दिया कि लोगों ने गलत आदमी को नहीं चुना,—आप कसौटी पर खरे उतरे!

जिस तरह आपने तीन गोलियाँ पेट में और एक छाती में मारी, उससे यह भी स्पष्ट हो गया कि आपके गुरु द्रोण ने आपको निशाना लगाना अच्छा सिखाया है।

जब से मैंने इस घटना का वृत्तान्त पत्रों में पढ़ा है, तब से मुझे लगातार लगता रहा है कि आप जरूर बड़े मनस्वी व्यक्ति होंगे। नहीं तो एक

बार भी अगर आप इस खयाल को अपने पास फटकने देते कि आखिर यह आप क्या करने जा रहे हैं, तब तो अनर्थ ही हो जाता ! आपके संघ में यह बड़ी अच्छी बात है कि सोचने का तमाम काम नेता करता है। इस सोचने से छुट्टी पा ली जाय तो सारे काम बड़ी मुस्तैदी से किये जा सकते हैं—यहाँ तक कि बापू पर बिना हाथ हिले गोली तक चलायी जा सकती है...

गान्धी को आपने गोली मार दी, अच्छा ही किया। खटिया पर मरते तो दुर्भाग्य होता। गान्धी को रणक्षेत्र में सीने में गोली मारकर आपने उसके संग कितना बड़ा उपकार किया है, इसे आप नहीं आनेवाली सदियाँ समझेंगी। गांधी को ईसा बनानेवाले आप हैं। आपकी गोली ने उसे इतिहास के महानतम शहीदों की पंक्ति में बिठा दिया। गीता के सच्चे कर्मयोगी की भाँति जीवन का एक-एक क्षण कर्म में लगे रहने के बाद अस्सी वर्ष की आयु में मिलनेवाले शहीद के पद से अधिक भाग्यशाली बात दूसरी क्या हो सकती है ?...न्याय आपको फाँसी पर लटकाएगा, लेकिन इतिहास आपका ऋण स्वीकार करेगा ! सच, मैं झूठ नहीं कहता ;—नहीं, मैं आपसे दिल्लगी नहीं कर रहा !

पुलिस के कठघरे में सुरक्षित गोडसे, आपने धूमकेतु के समान भारत के गगनमंडल में त्रास की छाया बिखेर दी है। आप नहीं जानते, आप कितने सुरक्षित हैं ! प्रकृति का आप पर यह बहुत बड़ा अनुग्रह है कि मौत एक ही बार आती है...कुछ सुना आपने, प्रकृति का आप पर यह बहुत बड़ा अनुग्रह है, बहुत बड़ा......

...मगर मुझसे मत डरो, मैं एक दुर्बल-सा, प्राइमरी स्कूल का मास्टर हूँ।

पत्र बहुत लम्बा हो गया है। उत्तर की प्रतीक्षा अखबार में करूँगा।

...पर उधर तो देखो, फंदा तुम्हारे गले में कस जाने को कितना आतुर है?...मगर कोई मुझे यह तो बताये कि यह फंदा है या मेरी लम्बी-लम्बी गँठीली उँगलियों की सँड़सी!

कीचड़

सब तत्परता से अपना परिचय देने लगे—

मुझे रूपकिशोर सक्सेना कहते हैं। कानपुर में वकालत करता हूँ। आप लोगों की मीठी मीठी बातों के लालच में उधर से इधर चला आया। (किसी को इस सफाई की जरूरत न थी गोकि!)

दूसरे साहब ने कहा—जी, मेरा नाम हरबंस सिंह है (नहीं, उनके दाढ़ी नहीं है), दयाराम बतरा की फर्म में जेनरल मैनेजर हूँ, इस वक्त कलकत्ते जा रहा हूँ, बीस लाख के कैपिटल से एक नया धंधा शुरू करने।

तीसरे साहब ने कहा—अजी, मुझे पुरुषोत्तमदास खत्री कहते हैं, यहीं दिल्ली में मेरी एक छोटी-सी दूकान है, कनाट प्लेस में; जुवेलरी की।

चौथे साहब ने कहा—मैं रमन हूँ, एस० एस० रमन। (नहीं आप सी० वी० रमन से उनका रिश्ता जोड़ने की कोशिश न करें, एक तो वह गलत है, दूसरे रूपकिशोर साहब पहले ही ऐसा कर चुके हैं...मगर इसका यह मतलब नहीं है कि रूपकिशोर साहब सब काम गलत ही करते हैं या कोई काम गलत सिर्फ इसलिए है कि रूपकिशोर साहब उसे करते हैं!) न मैं दिल्ली रहता हूँ न कलकत्ता, यानी मैं दिल्ली में भी रहता हूँ और कल-

कत्ते में भी। मैं दिल्ली में होटल में जिन्दगी काट रहा हूँ ; (साहब, निरू-लाज़ बड़ा सूरतहराम होटल है। क्यों भई हरबंस, वह रोज़ बैंगन क्यों बनाता है ? अब आजकल तो मटर और टमाटर के दिन हैं। हरबंस ने उनकी बात की तसदीक़ करते हुए कहा—मैं भी रोज टमाटर लाने के लिए कहता हूँ मगर वह कह देता है कि अभी बाजार में आये नहीं। रमन साहब ने लाल-पीले पड़ते हुए कहा—किस बाजार में जाता है साला ! मुझे तो आजकल दिल्ली में सिवाय टमाटर के और कुछ नजर ही नहीं आता।...And then he charges you three hundred rupees a month...Swine !) मेरे बीबी-बच्चे कलकत्ते में हैं। मैंने अपने बॉस से साफ कह दिया है कि मुझे महीने में पंद्रह दिन की छुट्टी अपने बीबी-बच्चों के पास रहने के लिए चाहिए, अगर नहीं दे सकते तो यह रहा मेरा इस्तीफा !

एक मनहूस थकान और कानिस्टिबिल के चेहरे जैसी खबासत-भरा गेहुँअन चेहरा जिस पर ताज़गी या अक़्ल की रौशनी नाम को नहीं है, जो लकड़ी के एक पटरे की तरह सख्त और बेजान है। गेहुँअन, क्लीनशेव्ड चेहरे पर चेचक के दाग, सीतला के, जो गड्ढों की तरह नजर आते हैं। (अजब बात है कि चेचक के दाग काले चेहरे से भी ज्यादा बुरे गोरे चेहरे पर नजर आते हैं !) पकौड़ी की तरह नाक। मोटे मोटे ओंठ, पान से रंचे हुए—बिलकुल गैरमामूली ओंठ। जहाँ औरों के एक धड़कता हुआ दिल होता है, वहाँ इसके थलथल गोश्त का एक टुकड़ा है, जैसे एक बड़ा-सा गोबरैला। उसके मुँह से सौंफ की गन्ध आ रही है। उसने बहुत-सी सौंफ खा रक्खी है जिसमें उसके मुँह से उड़नेवाली मटके भर कच्ची शराब की बदबू दब जाय (नहीं नहीं, कहानी में कोई गलती नहीं है। यह न समझिए कि कोई सेकंड क्लास में चलता है तो वह जॉन एक्सशॉ या

ह्वाइट हॉर्स ही पीता है !) मगर नतीजा कुछ और ही होता है, दोनों के संयोग से एक तीसरी बदबू पैदा होती है जो शराब की बदबू से भी ज्यादा बदबूदार है।

× × ×

'रूपकिशोर सक्सेना। कानपुर में वकालत करता हूँ।' इतने से पता नहीं आपकी आँखों के सामने कोई तसवीर खिंचती है या नहीं; मैं तो इतने परिचय से एक लाख आदमियों में से कानपुर के वकील रूपकिशोर सक्सेना को ढूँढ़ निकालूँ। उस रोज टूँडले से कानपुर तक तूफान में मेरा उनका साथ हो गया यह बात अलग है। इसके बिना भी मैं उनको पहचानता था, इसीलिए जब उन्होंने अपना परिचय दिया तो मुझे उसमें कोई नयापन नहीं मालूम हुआ, जैसे मैं बीसियों बरस से जानता होऊँ कि यही रूपकिशोर सक्सेना वकील हैं, जैसे उनका और कोई नाम मुमकिन ही न हो, जैसे वे रूपकिशोर सक्सेना छोड़ और कुछ नहीं हो सकते या जैसे अगर यह आदमी रूपकिशोर सक्सेना नहीं तो फिर दूसरा कौन हो सकता है !

कानपुर के वकील रूपकिशोर सक्सेना के सर पर ऊनी गांधी टोपी है। ऊपर धड़ पर साढ़े तीन या चार वर्ग इञ्च के चारखाने का कोट है, नीचे धड़ पर मोटे केचुए के बराबर मोटी धारियों का ढीलमढाल पतलून है। जैसे एक छिपकिली पतलून पहन कर चलने लगी हो, खड़े हो कर, सीधे !

बाकी लोगों के बारे में कोई खास बात कहने को नहीं है सिवाय इसके कि सबके सफाचट चेहरे संगमर्मर की तरह चिकने और सपाट नजर आ रहे हैं।

इन लोगों के बारे में कोई बुरी बात नहीं कही जा सकती। ये समाज के सभ्य से सभ्य, संभ्रान्त से संभ्रान्त नागरिक हैं। बेहतरीन कपड़े पहनते

हैं (कुछ को इसकी तमीज़ नहीं भी होती !) हमेशा लकदक सूट में नजर आते हैं, सिगार और सिगरेट का शौक करते हैं (मिस्टर रमन को देखिए न बर्मा के चुरुटों का बकस साथ में रखते हैं), छोटी हाज़िरी और बड़ी हाज़िरी खाते हैं, अपने अपने घरों में आज के जमाने में भी अच्छा आमिष और निरामिष खाना खाते हैं, सेकंड क्लास में सफर करते हैं, अपनी बीवियों को रंगीन रंगीन रेशमी और ऊनी कपड़े पहनाकर और खुशनुमा (चाहे नकली !) हीरे-जवाहरात से सँवारकर उन्हें संग में लिये कनाट सर्कस या हजरतगंज या चौरंगी या कोलाबा में घूमते हैं, राजनीति और समाजनीति की लंबी-चौड़ी व्याख्याएँ करते हैं, दिलोजान से कम्युनिस्टों से नफरत करते हैं, मजदूरों को हिकारत की नजर से देखते हैं, राह चलते भी उनसे अपना दामन बचाते रहते हैं। यानी हर तरह से वे समाज के भद्र लोग हैं। आप किसी बात के लिए उन पर उँगली नहीं उठा सकते। बलात्कार और रक्तपात और हिंसा की बात सुनकर, वे कहते हैं, उन्हें बड़ी तकलीफ होती है। (कुछ को ग़श तक आ जाता है !) वे ऐसा एक भी (अच्छा या बुरा) काम नहीं करते जो समाज के प्रचलित मानदंडों के खिलाफ जाता हो।

यह बात बिलकुल अलग है कि छिपे छिपे वे अपनी बीवियों को सताते हैं, दूसरों की बीवियों को लिप्सा की आँखों से देखते हैं (यहाँ तक कि कभी कभी अपने पुरुषार्थ से......!) आपस में गंदे गंदे मज़ाक़ करते हैं जिन्हें सुनकर शायद इक्केवाले भी कान में उँगली दे देंगे, अपने ही जैसे लोगों के दरमियान जो बिला हिचक अपने अंदर के सड़ते हुए कीचड़ को फ़ख्र के साथ बाहर लाते हैं, मगर यों सदा ओंठ सिये रहते हैं काम की बात के अलावा एक लफ़्ज़ भी ज़बान से नहीं निकालते, पब्लिक में वैसी कोई बात अगर सुनायी पड़ जाय तो जुगुप्सा से ऐसा तीन कोने का मुँह बनायेंगे गोया वैसी किसी बात की छाया से भी वे मीलों दूर हैं, मगर वे ही महापुरुष जब अपने दिलों के दरवाजे खोलते हैं तो अन्दर की तमाम

ग़लाज़त और सड़ांद बंद हवा की तरह बेतहाशा बाहर की तरफ़ भागती है—

जिस समय इस नाटक का पर्दा उठा, बाबू रूपकिशोर सक्सेना (कानपुर के वकील) सबसे अलग-थलग बैठे थे; मगर इधर रमन, हरबंससिंह और पुरुषोत्तमदास खत्री में ऐसी लुभावनी बातचीत चल रही थी कि बाबू रूपकिशोर को अपनी जगह छोड़ कर इन लोगों के पास आना ही पड़ा। शराब का लती आदमी जिस तरह कलवरिया की तरफ़ से गुजरने पर उसके भीतर घुस जाने की कोशिश शिद्दत से महसूस करता है, उसी तरह रूपकिशोर के लिए यह बातचीत थी।

यों बातचीत कुछ खास न थी। वे तीनों पहले के परिचित थे, एक ही होटल में रहते थे, वही सब बातें आपस में कर रहे थे—खाने की शिकायत और ऐसे एक दोस्त का ज़िक्र जो बड़ा यारबाश था, बड़ा नेक था, दोस्ती निभाना जिसे आता था, अपने से बन पड़ने वाली किसी मदद में जो कभी कंजूसी नहीं करता था, मगर जिसमें एक यही ऐब था कि वह औरतों का बुरी तरह शैदाई था। हरबंस के शब्दों में 'विमेन आर हिज़ वीकनेस'। उसे रुपए का मोह नहीं इसलिए घूस से उसे सरोकार नहीं मगर कोई खूबसूरत औरत अगर दिख गयी तो फिर वह उसके पीछे जरूर भागेगा, उसी तरह जैसे कोई खूबसूरत चिड़िया दिख जाने पर बहेलिया कंपे में लासा लगाकर उसके पीछे पीछे इस पेड़ से उस पेड़ भागा भागा फिरता है या जैसे चीतल दिख जाने पर असली शिकारी कांधे पर बन्दूक रखे पूरे जंगल की खाक छानता फिरता है। हरबंस के उन दोस्त के रक्त में जैसे यही शिकारी की मनोवृत्ति हो जो शिकार देखते ही जग जाती हो...

...और हर सुन्दर स्त्री उनके लिए शिकार थी जिसके पीछे वह न भागें ऐसा नहीं हो सकता था, भागना उन्हें पड़ता ही था क्योंकि यही उनके मन के दिगन्तव्यापी निबिड़ जंगल की पुकार थी।

उन्हीं के किस्से हरबंस रस ले लेकर सुना और बाकी लोग सुन रहे थे, कैसे एक बार हरबंस ऐसे वक्त, चपरासी के रोकने पर भी उनके दफ्तर में घुस गया जब कि वह साहब अपनी ऐंग्लो-इंडियन स्टेनो के संग...

सब आत्यन्तिक उल्लास से खी खी खी खी हँस रहे थे : उन्हें इसमें अपनी नग्न वासना का प्रतिफलन दिखाई दे रहा था। बिना वैसी वीभत्स स्थिति में पड़े वे उसका मुख भी लेना चाहते थे और साथ ही अन्दर अन्दर अपने को सर्वथा पूत समझने के अहंकार को भी तिल भर न छोड़ना चाहते थे। इस समय उन्हें लग रहा था कि ये दोनों बातें सम्भव हैं। कभी रमन और कभी खत्री हरबंस को खोद खोदकर उस घटना की तफसील सुनाने को कह रहे थे और हरबंस भी औढर दानी की तरह न केवल उन्हें उस घटना की एक से एक रसभरी तफसीलें सुना रहा था बल्कि उन हज-रत के नए नए किस्से सुना रहा था!

बड़ी देर से यह संभोगक्रीड़ा चल रही थी। पहले तो बाबू रूपकिशोर ने बिना बुलाए इन लोगों के पास न आकर अपनी कुलीनता की रक्षा करनी चाही, किन्तु आखिरकार एक क्षण ऐसा आया जब वे इस सरस वार्त्ता में हिस्सा लेने से अपने को और न रोक सके!

ऐंग्लो इंडियन स्टेनो और हरबंस के उन दोस्त के किस्से से बाबू रूप-किशोर को ऐसे एक युवा मिल मालिक की याद आ गई जिसका पुरुष स्टेनो से एक दिन काम न चलता था और जो लगभग हर महीने पुरानी लड़की को छुट्टी देकर इन्टव्यू के लिए नई नई लड़कियों को अपने दफ्तर में बुलाता था।

सभी श्रोताओं की अंतश्चेतना से एक हूक निकली : काश कि हम भी ऐसा ही कर सकते!

खत्री ने पूछा—तो खूब चलता होगा टाइपिंग का काम!

रूपकिशोर ने खत्री की बात का लाक्षणिक अर्थ पकड़ते हुए कहा—हाँ, दिन भर में एक चिट्ठी होती है। पूरा पूरा दिन यही तय करने में

चला जाता है कि 'वी बेग टु ऐकनॉलेज रेसीट आफ़ योर लेटर डेटेड...' लिखा जाय या 'योर लेटर डेटेड—वाज़ ड्यूली रिसीव्ड......' !

फिर हरबंस के ही चरण-चिन्हों पर चलते हुए रूपकिशोर ने एक दिन का वाक़या खूब रस ले लेकर इशारों के साथ सुनाया जब एक रोज़ वे उन नौजवान मिलमालिक के दफ्तर में ऐसे वक्त चले गए (कंपनी के कानूनी सलाहकार की हैसियत से उन्हें कहीं आने जाने से कोई रोक तो सकता नहीं!) जब वे एक बड़ा जरूरी खत स्टेनो के पास बैठे 'डिक्टेट' करा रहे थे!

उनके इस लतीफे का लोगों ने जोरदार स्वागत किया। वही खोखली हँसी और खोद-खोद कर बारीकियों का पता लगानेवाले सवाल जो किस्सा कहनेवाले को गंदगी के कीचड़ में और गहरे उतरने के लिए शह दे।

बाबू रूपकिशोर की इस कहानी को लोगों ने इतना पसंद किया कि उन्होंने प्रोत्साहित होकर अपनी कहानियों की जैसे बाढ़ सी लगा दी—मगर आपको उन कहानियों से वंचित ही रहना पड़ेगा क्योंकि अभी तक हिंदुस्तान में लुचों और गिरहकटों और रंडियों के दलालों की हुकूमत नहीं कायम हुई है!

कब यह बातचीत अनायास पंजाब के दंगों पर चली गई, किसी को जैसे पता ही न चला। अब लड़कियाँ भगाने और बलात्कार आदि की कहानियों का दौर चल रहा था। यह प्रसंग ऐसा सरस है कि चाहे उसका दंगे से संबंध हो या न हो श्रोता को उसमें आनंद तो आता ही है। दंगे ने तो सिर्फ इतना किया कि इस मज़े को कई हजार से गुणा कर दिया। पहले कहाँ दो चार लड़कियाँ उड़ाई-भगाई जाती थीं और कहाँ दो चार बलात्कार के मामले होते थे, अब लाख डेढ़ लाख लड़कियाँ भगाई गई थीं और

बलात्कार के मामले तो इतने हुए कि गिनती करना मुशकिल हो गया। पहले कहाँ ज्यादातर मुसलमान गुंडे ही इस कारोबार में हातिम रहते थे, अबकी हिन्दुओं और सिखों ने भी बढ़ बढ़ कर हाथ मारे थे और एलानिया साबित कर दिया था कि मुसलमानों, तुम यह न समझना कि हम तुमसे घटकर हैं, हम तुमसे भी बड़े गुंडे हैं !

लाखों मरने थे मर गए, लाखों बच्चे यतीम होने थे हो गए, लाखों औरतों का सतीत्व नष्ट होना था हो गया। अब तो सिर्फ उनकी कहानियाँ रह गई हैं जिन्हें लोग चटखारे ले लेकर सुन-सुना रहे हैं।

अचानक जैसे बाबू रूपकिशोर ने सबके सिर पर ईंट दे मारी—आपको मुसलमान का भरोसा है ?

हरबंस ने कहा—आजकल वह लोग गांधी जी और पण्डित नेहरू में भक्ति तो बहुत दिखलाते हैं, करीब करीब रोज ही किसी न किसी का बयान रहता है।

रूपकिशोर ने जैसे इस चीज का मखौल उड़ाते हुए कहा—अजी उन बयानों की भी आपने भली चलाई। वह तो मरता क्या न करता वाली बात है।

हरबंस ने बहुत हलका सा विरोध करते हुए कहा—मगर तो भी....

रूपकिशोर ने कूटनीतिज्ञ की सी हँसी हँसते हुए कहा—नहीं भाई, वह बात मेरे गले से नीचे नहीं उतरती।

और फिर बहुत जोर के साथ जैसे अपनी बात पर वजन देते हुए कहा—मुझे तो इसमें शक ही नहीं नजर आता कि मुसलमान कभी हिन्दुस्तान के प्रति सच्चा हो नहीं सकता—

पुरुषोत्तम दास खत्री ने जो खामोशी के साथ हवा का रुख पहचानते हुए बैठे थे, कहा—तो मारे जाएँगे साले !...आपको मालूम है दिल्ली में हमने क्या किया है !

सब लोग जैसे मुँह खोलकर खत्री की घोषणा का इन्तजार करने लगे। खत्री भी अपनी बात का असर और भी गहरे उतारने के खयाल से कोई तीस सेकंड के लिए खामोश रहे, फिर इन्द्र के-से गुरुगंभीर स्वर में अंतरिक्ष को जैसे एक पर्वताकार नगाड़े से निनादित करते हुए बोले—दिल्ली में अब मुसलमान की शकल नहीं दिखाई देती और अगर कहीं दिखाई देती है तो वहीं जामा मसजिद के आसपास जहाँ वह अपने दड़बे में घुसा बैठा रहता है, चेहरे पर झाड़ू-सी फिरी हुई.......

इतना कहकर खत्री फिर कुशल वक्ता के समान चुप हो गये। तीस सेकंड के अन्तराय पर मन्त्रमुग्ध श्रोताओं, मुख्यतः बाबू रूपकिशोर, को पूरी तरह अपने हाथ में करते हुए बोले—सिख को देखकर तो अब मुसलमान की बोटी काँपती है।

हरबंस सिंह ने इसको अपनी प्रच्छन्न प्रशंसा के रूप में ग्रहण किया और भीतर ही भीतर फूलकर कुप्पा होते हुए कहा—सच पूछिए तो पूरबी पंजाब में भी कुछ कम नहीं हुआ है। अखबार में आने नहीं दिया हम लोगों ने। लोगों का खयाल है कि तीन और दो का रेशियो (अनुपात) होगा—

बाबू रूपकिशोर ने इस भाषा को न समझते हुए पूछा—क्या मतलब?

अब तो खत्री को इस बात का पूरा यकीन हो गया कि रूपकिशोर सख्त गावदुम आदमी है, उसे पता ही नहीं कि दुनिया कहाँ की कहाँ पहुँच गई शायद यह अब भी उसी पुराने ख्याल में पड़ा हुआ है कि मुसलमान बड़ा मारतेखाँ होता है और हिन्दू निरा पिट्टनचंद। अजी वह जमाने लद गए। अब तो मुसलमानों को लेने के देने पड़ते हैं।

तभी हरबंस ने कहा—तीन मुसलमान और दो हिन्दू।

बाबू रूपकिशोर ने आश्चर्य से कहा—अच्छा ऽऽऽ....और विस्फारित नेत्रों से इन देवदूतों को निहारा जिन्होंने यह सुख-संवाद उसे सुनाया। उसे अपने भीतर स्वर्गिक सुख और शान्ति का पारावार उमड़ता-सा प्रतीत

हुआ। करीब था कि अज़हद खुशी के मारे उसे फिट आ जाता, मगर उसने अपने को काबू में कर लिया और प्रकृतिस्थ से स्वर में मगर जैसे विश्वास न करते हुए (इतनी बड़ी बात थी यह, कोई इस पर सहसा विश्वास कर भी कैसे लेता !) कहा : इट इज़ टू गुड टु बी ट्रू,† तो क्या मैं सचमुच यह समझूँ कि पंजाब में ज्यादा मुसट्टे ही मारे गए हैं !

भावावेश के कारण रूपकिशोर का स्वर धीमा और कुछ भर्रा-सा गया था।

खत्री ने कहा—इसमें ताज्जुब की बात ही क्या है ? हिन्दू भी अब किसी से किसी मामले में उन्नीस नहीं हैं बीस भले ही हों। मैं तो बस दिल्ली की बात जानता हूँ। जिस दिल्ली में उनके पुरखों ने आठ सौ साल तक राज किया, उसी दिल्ली में आज उनकी क्या गत बना दी गई है, कभी दिल्ली आइए तो दिखलाऊँ।

इन समाचारों ने बाबू रूपकिशोर की वाणी छीन ली थी। उनके भीतर इस वक्त खुशी के मारे ऐसी हलचल मची हुई थी कि उन्हें लग रहा था मानों उनके दिल की धड़कन बढ़ गई हो।

तब बाबू रूपकिशोर ने एक विचक्षण इतिहासकार की-सी भंगिमा में कहा—तब तो इसका मतलब है कि अगर गांधीजी ने दिल्ली पहुँचकर रोक-थाम न की होती तो—

हरबंस—एक साला मुसल्ला बचकर न जाता, सबकी यहीं कब्र बना दी जाती। और वह मुसकराया।

खत्री ने प्रतिवाद सा करते हुए कहा—मगर कांग्रेस और गाँधीजी को दुनिया पर भी तो नजर रखनी पड़ती है। गाँधी जी और पंडित जवाहर लाल हमसे आपसे ज्यादा अक्लमंद हैं। हम-आप तो महज एक बात देखते हैं, उन्हें इस बात की भी तो फिक्र है कि दुनिया में हिन्दुस्तान की बद-नामी न हो—

---

† भई, यक़ीन नहीं होता !

इस पर रूपकिशोर ने नाटकीय ढंग से क्रोध का प्रदर्शन करते हुए कहा—उन्हें जितनी फिक्र हिन्दुस्तान की बदनामी की है उतनी ही अगर इस बात की होती कि उन म्लेच्छों ने हमारी बहू-बेटियों के संग क्या क्या करम किये हैं......

खत्री ने कहा—यह न समझिए कि उन्हें इस बात की फिक्र नहीं है.... इण्डियन यूनियन, गौर से देखिए तो इस मामले में भी पाकिस्तान से पीछे नहीं है, फर्क बस इतना है कि यहाँ पर सब काम डिप्लोमैटिक (कूटनीतिक) ढंग से होता है, साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे !

यह कहकर खत्री ने उपस्थित सभी लोगों को लक्ष्य करके हलके से आँख मारी।

...और तत्काल सबने उनकी बातों को हृदयंगम कर लिया। गांधी जी और पंडित नेहरू के शान्ति-अभियान का रहस्य भी अब इन दूरदर्शी सज्जनों की समझ में आ गया था !

रूपकिशोर को अब अगर हैरानी किसी बात की थी तो यह कि इतनी सीधी सी बात उनकी समझ में क्यों नहीं आई थी !

इधर हरबंस अपने घाव पर मलहम लगा रहा था। रूपकिशोर की बात से उसे बड़ी चोट लगी थी। उसको बराबर यही लग रहा था कि मुसलमानों द्वारा हिन्दू और सिख बहू-बेटियों के सतीत्व-भंग की बात जैसे स्वयं उसको, हरबंस को, लजवाने के लिए कही गयी है—

छिः, लानत है तुम पर और तुम्हारी मर्दुमी पर, बड़े सिख बनते हो, मुसलमानों ने तुम्हारी बहू बेटियों के संग क्या क्या कर डाला और तुमसे कुछ करते-धरते न बना ! छी-छी तुम भी कोई आदमी हो !

आखिरकार हरबंस ने जैसे शिकायत के लहजे में कह ही तो दिया—करने को हमने भी कुछ कम नहीं किया मिस्टर रूपकिशोर, उसकी पब्लिसेटी न हो यह और बात है !

फिर हरबंस ने बहुत धीमी आवाज में, फुसफुसाते हुए, पूरबी पंजाब की उड़ाई हुई मुसलमान लड़कियों के एक से एक मदभरे किस्से सुनाने शुरू किये.......कैसे उन्हें उड़ाया गया, कैसे उन्हें पंद्रह-पंद्रह बीस-बीस की तादाद में एक एक मकान में रखा गया, कैसे कुछ दिनों के लिए वहाँ सैकड़ों चकले आबाद हो गए, कैसी कैसी हसीन और कमसिन छोकरियाँ उनमें थीं, कैसे हिन्दुओं और सिखों के गिरोह उन पर टूटते थे, कैसे उनमें से कुछ जो बगावत करने की कोशिश करती थीं उनके सर धड़ से अलग कर दिये जाते थे, और कैसे आगे-पीछे उन्हें भी जहन्नुम रसीद किया जाता था जो अपनी जवानी के पूरे उभार के साथ खामोशी से....

किस्सा कहने वाले और सुननेवाले, सबकी आँखें एक अजब वहशियाना रोशनी से चमक रही थीं !

सुना है अगले साल से कलकत्ते के ज़ू में एक नया जानवर आनेवाला है। उसके रूपरंग के बारे में अभी कोई तफ़सील किसी अखबार में नहीं निकली है, मगर मुझे लगता है कि मैंने उस जानवर को ज़रूर कहीं देखा है

बाबू मोहन गोपाल

एक रोज़ हैमिल्टन रोड पर चला जा रहा था कि देखा बाबू मोहन-गोपाल उर्फ़ मोहन चाचा साइकिल पर अपना एजेंटों का बैग लटकाये चले आ रहे हैं।

मैंने पूछा—कहो चाचा, क्या हाल-चाल है।

मोहन—अच्छे ही हैं।

मैं—बड़ी दबी ज़बान से कह रहे हो, जोश नहीं है। कुछ काम-वाम कर रहे हो या वही महकमा बेकारी!

मोहन—उस महकमे को तो अब छोड़ दिया। बीमा-कम्पनी का काम उठाया है। दौड़ना बहुत पड़ता है। आजकल लोग बीमा करवाते ही नहीं। बड़ी मन्दी है।

मैं—तो बड़ी थकान हो जाती है!

मोहन—हाँ रमेश, दौड़ते-दौड़ते बुरा हाल है। शहर का कोना-कोना छान डालता हूँ दिन भर में। मैं रोता हूँ साइकिल के नाम को और वह रोती होगी मेरे नाम को, किस क़साई के हाथ पड़ी, ज़रा चैन नहीं लेने देता।

मैं—तो इसमें आमदनी तो ख़ासी हो जाती होगी!

मोहन—खासी नहीं वह। जब होती होगी, होती होगी। आज-कल तो झींखना ही हाथ आता है। कहा तो, कोई पालिसी ख़रीदता ही नहीं। न जाने यह क्या हवा चली है।

मैं—तो चिपके क्या पड़े हो, कोई बिक थोड़े ही न गये हो उसके हाथ। फेंको एक तरफ़। कुछ और काम ढूँढ़ो।

मोहन—कोई काम मिले भी? आज-कल ६०) ७०) होते ही क्या हैं पहले के १५–२०; लेकिन उन्हीं के लिए अच्छे-अच्छे बी० ए० एम० ए० लोगों की अर्ज़ी पड़ती है। मुझ हाई स्कूल पास खूसट को कौन पूछता है! जीना मुहाल हो रहा है। समझ में नहीं आता क्या करूँ।

मैं—तुम भी तो मोहन चाचा, नौकरी के पीछे डण्डा लेकर पड़े हो। कोई निज का काम क्यों नहीं करते? बिसातख़ाना खोल सकते हो; नहीं तो परचून की दूकान तो है ही। मदन स्टोर को देखो, कैसा चमक गया है। चार बरस पहले ज़रा-सी कोठरी थी। थोड़ी-सी पूँजी लगानी पड़ेगी और उसे पाना कोई मुश्किल न होगा मैं समझता हूँ।

मोहन—उसकी तो कोई मुश्किल न होगी। भैया ही कहते थे कि मोहन, तुम्हारे लिए बिसातख़ाना खोल दूँ तो कैसा रहे?

मैं—तो फिर तुमने क्या कहा?

मोहन—और कह ही क्या सकता था? तुम तो जानते ही हो, मुझे यह काम पसन्द नहीं।

मैं—क्यों? और कुछ भी न हो, तो भी दूसरे की ग़ुलामी से तो अच्छा है। किसी का हुक्म तो नहीं बजाना पड़ता।

मोहन चाचा ने यों हाथ हिलाया जैसे डमरू बजा रहे हों और कहा—कुछ नहीं! कुछ नहीं! सब झूठ, ख़ुराफ़ात। सुनने में बड़ा अच्छा लगता है—किसी का हुक्म तो नहीं बजाना पड़ता—लेकिन क्या खब्बीस काम है कि छः महीने के अन्दर-अन्दर अच्छा-भला आदमी हूश हो जाय, पूरा बनमानुस। मेरे किये न होगा।

मैं—तो आखिर कब तक ठोकरें खाने का इरादा है ? बूढ़े तो हो चले ! चार साल तो मेरे देखते-देखते हो गये ।

मोहन—जब तक बदा होगा ठोकरें खाना, खाऊँगा, लेकिन परचून की दूकान खोलकर बैठूँ या पेन्सिल, क़लम, चाक़ू, एवररेडी, साबुन, तेल, कंघे और दुनिया का अल्लम-ग़ल्लम फ़रोख्त करूँ इतना खूसट अभी मैं नहीं हुआ हूँ ।

मैं—लेकिन चाचा, काम को कभी हिकारत की नज़र से न देखना चाहिए । पेट पालने के लिए आदमी क्या नहीं करता ?

मोहन—आदमियों के करने की एक ही कही । अरे, आखिर आदमी ही तो गिरहकटी भी करते हैं ।

मैं—तो साबुन-तेल बेचना, आटा-दाल बेचना गिरहकटी है ? और वह सारी दूकानें जो शहर भर में बिखरी हुई हैं, उमर ऐण्ड सन्स, क़मरुद्दीन ऐण्ड कम्पनी, मोहन ब्रदर्स, सोहन ब्रदर्स लिमिटेड सब गिरहकटों के अड्डे हैं ? !

मोहन ने मुस्कराते हुए कहा—लड़ाई किस बात की है । तुम उन्हें गिरहकट नहीं मानते, चलो मैं भी नहीं मानता और सच पूछो तो वह गिरहकटों से भी गई-बीती शय हैं । न कोई तौर न तरीक़ा । वैसी सोसायटी में और लोग हो भी क्या सकते हैं बेचारे ।

मेरे तो तन-बदन में आग लग गई । गुस्से में मुझसे एक स्पीच बन पड़ी । मैंने कहा—बड़े सिरफिरे हो यार ! दूकान का ईमानदार पेशा तुम्हें गिरहकटी जान पड़ता है और पैसेवालों के तलुए चाटने के लिए तुम्हारी जीभ से राल टपकती है । तुम सिरफिरे नहीं तो और हो क्या ! आज़ाद पेशा अख़्तियार नहीं करते बनता, इधर से उधर जूतियाँ चटखाते फिर रहे हैं कि कहीं दीख भर जाय क्लर्की और मारें झपट्टा बाज़ की तरह । परमात्मा ने थोड़ी-सी अक़्ल भी तो रख ही दी होगी तुम्हारे भेजे में या बिलकुल ही कोढ़मग्ज़ हो । बिलकुल ही कोढ़मग्ज़ हो तो वैसा कहो,

उसकी दवा की जाय। तुमसे दस हज़ार मरतबा इसी बात पर भौं-भौं हो चुकी है। मेरा कुछ कहना भी अब मुमकिन है तुम्हें नागवार गुज़रता हो, लेकिन मैं समझ नहीं पाता तुम्हें कहाँ की लाचारी है कि एक छोटी-सी, सुबुक भलेमानस दूकान का काम छोड़कर साहबों या सेठों की अरदली करो, उनके यहाँ ख़ामख़ा एड़ियाँ घिसो? कोई तुक भी हो। वरना अपनी एक छोटी-सी दूकान हो, वक़्त से खोला, वक़्त से बन्द किया, न ऊधो के लेने में न माधो के देने में।

लेक्चर तो मैं झाड़ गया लेकिन नतीजा ख़ाक-पत्थर कुछ न निकला। मोहन चाचा अपनी जगह अड़े के अड़े रहे। उन्होंने एक बार फिर सिर हिला दिया। मैंने समझ लिया लालाजी का मर्ज़ लाइलाज है। लेक्चर से बड़ी कोई चीज़ ही इनका दिमाग़ ठिकाने पर ला सकेगी। मैंने कुढ़ते हुए मन ही मन कहा—मोहन चाचा, दिन अब बुरे लग रहे हैं, कोट-पतलून की शान निभाना दुश्वार हो जायगा।

प्रकट मैंने कहा—तो जब यही तुम्हारा इरादा है तो फिर रोते क्यों हो नानी के नाम कि दौड़ते-दौड़ते पलिंजर ढीला हुआ जाता है। इसमें तो यही हाथ लगना है।

(२)

रुपये में पूरे सोलह आने बाबू, पक्के रङ्ग, नाटे क़द, हल्के-फुल्के जिस्म और बिल्ली की-सी भूरी-भूरी आँखों के मालिक बाबू मोहनगोपाल मेरे बड़े अच्छे दोस्त हैं। हमउम्र और कुछ बातों को छोड़कर बहुत-सी बातों में हमख़याल।

यों तो भाई-भाई में इतना प्यार कम मिलता होगा जितना मुझमें और मोहन चाचा में। लेकिन इसी क़िस्म की बातों को लेकर हममें जब-तब झड़प हो जाया करती है। मोहन चाचा में दिखावा काफ़ी है और दिखावे से मुझे नफ़रत है। मोहन चाचा कपड़ों के ग़ुलाम हैं, अपनी

तौफ़ीक़ से ज़्यादा कपड़ों पर खर्च करते हैं। दिन को कोट-पतलून में हैं, लक़दक़, सूटेड-बूटेड, तो शाम को कल्लीदार कुर्ते और लाल किनारे-वाली बंगाली चाल की धोती में। मैं सादगी से रहना पसंद करता हूँ और चाहता हूँ कि वह सादगी से रहें। इसी बात पर हम दोनों के दो रास्ते हैं। उन्हें अपनी तड़क-भड़क से नजात नहीं और तड़क-भड़क मुझे फूटी आँख नहीं सुहाती।

'बन्धन' आया था। मैंने मोहन चाचा से कहा—'बन्धन' देखने चलेंगे।

मोहन चाचा ने बड़े तपाक से जवाब दिया—ज़रूर।

मैंने कहा—साढ़े चार आने वाले में चलें।

मोहन चाचा का जोश बिलकुल ठण्डा पड़ गया, बोले—तब मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकता। तुम आवारा हुए जा रहे हो। उन नीच लोगों के साथ तुम बैठते कैसे हो, मेरी समझ में तो यही नहीं आता। ज़माने के इक्केवाले, ताँगेवाले, छकड़ेवाले, धोबी, कुली-कबाड़ी और न जाने कौन-कौन-सी कमीन ज़ातें—छी-छी। घास तो नहीं खा गये हो रमेश, उनके साथ बैठने कहते हो? उनके आस-पास की सारी हवा तो ताड़ी और चरस की बदबू से भरी रहती है। उनके पास बैठते नाक नहीं फटती तुम्हारी? सचमुच कितने गन्दे होते हैं वे—जुएँ, चीलर, खटमल क्या नहीं होते उनके जिस्म में!

मैंने कहा—वे पूरी तरह ऐसे नहीं होते जैसा आप समझ बैठे हैं मोहन चाचा। उनके साथ बैठने से आपको उनकी छूत न लग जायगी। (मन ही मन) हमारी-तुम्हारी असली जगह तो इन्हीं लोगों के बीच है। हम नाहक़ ऊपर उठकर साहबों की पंगत में बैठने की कोशिश करते हैं। बारबार उठा दिये जाते हैं, गरदनियाँ दे कर बाहर कर दिये जाते हैं लेकिन हम भी कैसे बेशर्म हैं।

ज़रा देर की ख़ामोशी के बाद मैंने फिर कहा—मोहन चाचा, चलिए

मेरे कहने से एक बार चले चलिए। मैं नहीं कहता कि आप हमेशा साढ़े चार आने में ही देखिए लेकिन उन्हें ऐसी हिक़ारत की निगाह से आपको न देखना चाहिए। असल में यही हमारे-आपके भाई-बन्द हैं।

लेकिन मोहन चाचा टस से मस न हुए। फिर मैंने उन्हें लालच दिया—बड़े-बड़े मज़े रहते हैं उसमें मोहन चाचा। और मैंने साढ़े चार आनेवाले दर्जे के अनगिनत मज़ों, उसकी अनगिनत आज़ादियों का गुलाबी ख़ाका पेश किया।

बड़े मज़ेदार लोगों से बातें करने मिलती हैं। हँसी-दिल्लगी करने का बड़ा मौक़ा रहता है। दिल खोलकर 'हाय राजा', 'हाय रानी', 'मार डाला', 'नैना बान' की सदाएँ बुलन्द कीजिए, गर्म-गर्म साँसें छोड़ने में इंजन की चिमनी ही क्यों न बन जाइए, कोई मरदूद रोकनेवाला नहीं। इतना ही क्यों, बीच में फ़िल्म कहीं फ़ेल कर जाय, तो मैनेजर को, उसकी सात पुश्तों को पानी पी-पीकर कोसिए, गाली दीजिए, गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाइए, मुँह में 'V for Victory' की तरह दो उँगलियाँ डालकर बेतहाशा सीटी बजाइए, हाल सिर पर उठा लीजिए यानी हर मुमकिन और नामुमकिन तरीक़े से जी की भड़ास निकालिए, दिल ठंड कीजिए—बीबी से लड़ाई हो गई हो तो सिनेमा-मैनेजर को गाली, चोर-कट लड़के ने वास्कट की जेब से रुपया निकाल लिया हो तो सिनेमा-मैनेजर को गाली, मकान-मालिक किराये के लिए धरना दिये पड़ा हो, तो सिनेमा-मैनेजर को गाली, ग़रज़ सौ तपिश का एक ही रामबाण।

जब मेरे सारे अस्त्र अकारथ गये और वह बाबू तपस्वी न डिगा, तो मैंने सोचा, अब लाओ कह ही दूँ कि बन्धू मैं तुम्हारी नस-नस से वाक़िफ़ हूँ। मैंने कहा—और सब तो बातें ही बातें हैं, मोहन चाचा, असल में इक्के-ताँगेवालों के साथ बैठने से तुम्हें नफ़रत उतनी नहीं है जितना इस बात का डर कि अगर साढ़े चार आनेवाले दर्जे से निकलते किसी जान-

पहचानवाले ने देख लिया तो मैं कहीं का न रहूँगा, जीते-जी यही मनाना पड़ेगा कि धरती मैया फट जायँ और मैं उनमें समा जाऊँ।

चाचा दम्मी साधे रहे। मैं समझ गया, तीर निशाने पर बैठा है।

(३)

अबकी बार साल भर पर मोहन चाचा के घर गया।

मोहन चाचा घर पर नहीं थे। सरिता (मोहन की छोटी बहन) ने बताया—तेल लेने गये हैं।

मैंने पूछा—तेल ? कैसा तेल ?

सरिता—मिट्टी का तेल। और कैसा तेल ?

मुझे तो जैसे किसी ने करेंट छुला दी हो। मैंने अचम्भे में आकर पूछा—मोहन चाचा और मिट्टी का तेल लेने गये हैं ?

सरिता—हाँ, नौकर अब नहीं है। लेकिन इसमें ताज्जुब की बात क्या है ?

मैंने कहा—सरू, वहाँ तो बड़ी भीड़भाड़ होती है। गन्दे और झगड़ालू लोग होते हैं। आपस में मार-पीट तक हो जाती है, बोतलें चल जाती हैं, सर फूट जाते हैं, छोटे-मोटे दङ्गे हो जाते हैं, वहाँ मोहन चाचा खड़े कैसे हो पायेंगे ?

सरिता—खड़े न हों तो करें क्या ? अब पुराने मोहन चाचा नहीं रहे। मँहगी के मोहन चाचा हो गये हैं। सस्ती के मोहन चाचा तो कूच कर गये।

सरिता हँसने लगी। मैंने कहा—हाँ ऽ ऽ ऽ ? ऐसी बात है ? और उनका कल्लीदार कुर्त्ता ?

सरिता—है, अब भी कभी-कभी निकलता है। लेकिन सहमा-सहमा-सा रहता है। अब तो बड़ी आड़ी-तिरछी जगहों में जाना रहता है, इसी से,

सिविल लाइन की सैर तो अब है नहीं। आज उसे ही पहने चले गये हैं। न जाने कैसी बीतती है बेचारे पर........और लो आ भी गये भैया।

सरिता ने आवाज़ ऊँची करके कहा—मोहन भैया! देखो कौन आया है।

मोहन चाचा ने वहीं दालान में से आवाज़ दी—कौन है?

मैंने चीख़कर कहा—मैं, तुम्हारी क़ज़ा, रमेश।

मेरी आवाज़ सुनना था कि मोहन चाचा ने तेल की बोतल को जहाँ का तहाँ पटका और लपकते हुए सामने आ खड़े हुए—क्यों बे, बहुत दिन पर शकल दिखलाई? साल भर से ऊपर हो रहा है। कहाँ रहा इतने रोज़?

मैंने कहा—मोहन चाचा, तुम्हें मालूम नहीं, पकड़ गया था।

मोहन चाचा—क्यों, क्या इसी आन्दोलन के सिलसिले में?

मैंने हँसते हुए कहा—और नहीं तो क्या गिरहकटी के लिए?! अभी कुल पन्द्रह रोज़ तो हुए हैं छूटे।

मोहन चाचा ने बिगड़ कर कहा—पंद्रह रोज़ हो गये, पंद्रह रोज़ में ज़मीन तले-ऊपर हो जाती है और आज देख रहा हूँ आपकी मरदूद शकल। पोत दूँ इसी बात पर?

और मोहन चाचा लगे अपने तेल में सने हाथों को मेरे मुँह के सामने लपलपाने। मैंने कहा—पोत न दो। यहाँ डरता ही कौन है? 'ऐ रावन, तू धमकी दिखाता किसे?' यहाँ इन चीज़ों से नहीं डरा करते। ऐसे जूजू से तो तुम्हीं डरते हो।

मोहन चाचा—अबे गधे, कह, डरता था। अब कौन भकुआ डरता है। अब तो हम हैं और केरोसीन की बोतल, हम हैं और तरकारी की टोकरी, हम हैं और गेहूँ की बोरी, ग़रज़ हम हैं और मँहगी, तीसरा अब इस दुनिया में नहीं।

मैंने कहा—देखता हूँ जहाँ मेरी सारी लेक्चरबाज़ी अकारथ गई वहाँ मँहगी कारगर हुई। अब तो तुम आदमी बन गये हो।

मोहन चाचा—आदमी नहीं, खच्चर या दूसरा कोई लद्दू जो तुझे भाये।

मैंने कहा - नहीं, यह बात नहीं। इस चुनाव का हक़ तुम्हें दिया।

और फिर हम दोनों हँसने लगे। सरिता अलग हँस रही थी।

सरिता भली लड़की है। मोहन चाचा को आड़े हाथों लेने में वह मेरी मदद करती है। सरिता से मेरी पटती है। मोहन चाचा को चिढ़ाने के लिए मैंने कहा—क्यों सरू, है न वही बात ?

मोहन चाचा चकराये कि आख़िर क्या बात है। सोचे, हो न हो, मुझी से ताल्लुक़ रखती है। बोले—क्या बात जी ?

मैंने कहा—क्यों बतायें ? जाइए पहले हाथ धोइए, बनमानुस हो रहे हैं। हम आदमियों से बात करते हैं, बनमानुसों से नहीं। छिः, किस क़दर बदबू उड़ रही है। केरोसीन में सने खड़े हैं। शर्म नहीं आती। बाबू बनते हैं। क्यों सरू, तुम्हें ताड़ी की बू पसन्द है या केरोसीन की ?

मोहन चाचा इशारा ताड़ गये। बनावटी ग़ुस्सा दिखाते हुए बोले—बदमाश कहीं का। चिढ़ाता है ? ! मारते-मारते भुरकुस निकाल दूँगा। धो तो आने दे हाथ।

और सरिता के पास जाकर बोले—सरू, ज़रा बाँह तो ऊपर चढ़ा दे और देख इस रमेश से मत बोला कर, बड़ा आवारा है। साढ़े चार आने-वाले में सिनेमा देखता है।

मैंने कहा—केरोसीन में नहाने से तो फिर भी अच्छा ही है, क्यों सरू ?

अभी तक मैंने मोहन चाचा को ठीक से देखा भी न था। हाथ धोकर लौटते वक़्त उनके कुर्ते पर मेरी नज़र पड़ी।

मैंने चीख मारी—अरे मोहन चाचा, यह क्या हुआ ? तुम्हारा कुर्ता तो सारा चिंथा पड़ा है। यह कोई नया फ़ैशन निकाला क्या ?

मोहन चाचा—जी, इस नये फ़ैशन के दो नाम हैं, फ़ैशने-मजबूरी या फ़ैशने-महँगी।

मैंने कहा—यानी ?

मोहन चाचा—यानी यह कि कुर्ते के चिंथ जाने के पीछे एक हद दर्जे की मजबूरी है—केरोसीन की दूकान पर जब धींगामुश्ती हो रही हो, उस वक्त आप अपने कुर्ते को फटने से नहीं बचा सकते।

मैं—और फ़ैशने-महँगी से क्या मुराद है ?

मोहन चाचा—तुम्हीं बताओ यह तूफ़ान और किसने बरपा किया है ? इस नाम से उसी को याद कर लेते हैं।

मैं—जी, नाम तो बड़े मौजूँ हैं।

मोहन चाचा—आओ, अब गले तो मिल लें। साल भर पर मिले हो।

और हम दोनों सीने से सीना लगाकर गले मिले। मोहन चाचा ने मुझे इतने ज़ोर से दबाया कि मुझे लगा मेरी एक भी हड्डी-पसली साबुत न बची होगी।

मैंने कहा—बड़े मज़बूत हो गये हो। पहले तो मैं तुम्हें दाब लेता था। महँगी का अनाज फल रहा है।

मोहन चाचा ने कहा—ग़लत। यह महँगी के अनाज की ताक़त नहीं है। यह कसरत से आती है।

मैं—अच्छा, तो अब आप कसरत भी करते हैं ?

मोहन चाचा—कसरत नहीं, कसरत का बाप करता हूँ। केरोसीन की दूकानों की धींगामुश्ती और सट्टी की रेल-पेल से बड़ी ताक़त आती है रमेश। मैंने तो बाक़ी सारी कसरतें छोड़कर इसी को अपना लिया है। तुम तो करते ही होगे यह कसरत !

मैं—मैं तो बहुत दिन से कर रहा हूँ।

मोहन चाचा—लेकिन मालूम होता है फायदा नहीं हुआ ?

मैं—अब सबको एक ही कसरत थोड़े ही फ़ायदा करती है। अपना-अपना जिस्म है। लेकिन यह अच्छा हुआ, तुम्हें यह कसरत मुआफ़िक़ आ गई।

बेचारा !

बर्मा के भगोड़ों ने इतिहासविश्रुत, अशरणशरण प्रयागराज के निवासियों को कितना आश्रयहीन बना दिया है, यह बात यों ही ज़रा मुश्किल से समझ में आती है। व्यासशैली में कुछ कहना पड़ेगा।

वह घर पुराने कटरे में है। दोमंज़िला है। नीचे की मंज़िल में आँटा-दाल-चावल की दूकान है, ऊपर की मंज़िल में मेरे दोस्त रामचन्द्र रहते हैं। साँवले-साँवले से आदमी हैं, मँझोले क़द के हैं, यही पाँच फ़ुट पाँच इंच, घुँघराले बाल हैं, डेढ़हरे बदन के हैं (यानी इकहरे से कुछ ज़्यादा और दोहरे से कुछ कम), चश्मा लगाते हैं, एक हाई स्कूल में अध्यापक हैं। कुर्ता-पाजामा, अचकन, गान्धी टोपी उनकी आम पोशाक है। यों वे सूट भी पहनते हैं, लेकिन सब शुद्ध खद्दर का। अच्छा यह भी आप समझ लीजिए कि ये बातें मैं आपको यों ही नहीं बतला रहा हूँ। इस हुलिये को अपने दिल की पटिया पर अच्छी तरह, मोची के सूजों से खोद लीजिए क्योंकि अगर कभी आपकी इच्छा भी उनसे मिलने की हुई तो इसके बग़ैर आप जिन्दगी भर टक्करें मारते रहिएगा और कभी उनसे न मिल पाइएगा। यह बात लखौरी ईंट की तरह पक्की है। इसकी वजह भी तो है। वह यह कि उनके घर का ज़ीना हमेशा बाहर से लगा रहता

है अर वहीं उस थोड़े से चबूतरे पर या तो बकरी अपने पुत्र-कलत्र और अपनी समस्त संपदा के साथ बँधी रहती है या लाला की दूकान के गाहक अच्छी तरह आसन मारकर सौदा सुलुफ किया करते हैं। ग़रज़ यह कि वह जगह अच्छी तरह छिंकी रहती है और सहसा पता नहीं चलता कि लाला की सद्यः प्रसूता अजा जिस द्वार पर प्रहरी की भाँति खड़ी है, वही मेरे मित्र रामचन्द्रजी के घर का प्रवेशद्वार है। कई बार धोखा खा चुका हूँ लेकिन यह घर कुछ ऐसा गोरखधंधा है कि बार बार छक जाता हूँ। आज भी वही हुआ।

लाला ज़रा बदज़बान मशहूर है, इसलिए मैंने डरते डरते पूछा—क्यों भाई, वो मास्टर साहब इसी मकान में रहते हैं न ?

—कौन, वही, काले-काले, चश्मा लगाते हैं ?

मैंने कहा अबकी धोखा नहीं हुआ और सायकिल खड़ी करने का उपाय करने लगा।

दरवाज़ा खोलकर घुसा ही था कि रामचन्द्रजी का द्विचक्रयान मुझे हठयोग की एक अत्यन्त कठिन मुद्रा में लटकता दिखायी पड़ा। एक मोटी रस्सी, जी हाँ, काफ़ी मोटी जिससे सायकिल तो क्या यदि बाणासुर को कस दिया जाता तो वह भी चीं बोल देता, ऊपर से नीचे तक बँधी हुई थी और उसे साइकिल के लैंपस्टैण्ड, हैंडिल और सीट के लोहेवाले हिस्से के बीच से निकालकर और और भी कुछ कुछ करके बहुत कौशलपूर्वक नाँधकर उल्टा टाँग दिया गया था। मैंने कहा, देखो अध्यापक रामचन्द्र अपने सिद्धान्तों का कितना पक्का है। इसके यहाँ साइकिल के लिए भी दण्ड का विधान है। ज़रूर स्कूल जाते समय पंचर हो गयी होगी और बेचारा 'लेट' हो गया होगा, इसलिए इसको यह हैंग अपान द रोप की सजा मिली है। इसके न्याय के समक्ष जड़ और चेतन समान रूप से दंड के अधिकारी हैं। यही गीता का सच्चा स्थितप्रज्ञ है।

मैंने कल्पना की कि इस द्विचक्रयान का सारथी यदि हर बार आने के

साथ अपने यान को थान पर बाँधता और जाते समय खोलता है, तो वह निश्चय ही असाधारण वीर है। मैंने मन ही मन उसे श्रद्धा से नमस्कार किया और उस तंग सीढ़ी को कामयाबी के साथ घेरे हुए हैंडिलों से अपनी आँखों को बचाता हुआ अपने संकटापन्न मार्ग पर आगे बढ़ा।

जाकर दरवाज़े पर दस्तक दी।

दरवाज़ा खुला और मैंने रामचन्द्रजी के दर्शन किये या शायद यह कहना अधिक ठीक होगा कि रामचन्द्रजी ने मेरे दर्शन किये क्योंकि इस दुर्द्धर्ष यात्रा के बाद दर्शनीय यदि कोई था तो वह मैं। तो रामचन्द्रजी ने मेरे दर्शन किये और आह्लाद से भर उठे। बोले—बड़े भले वक्त से आये, केशव। गरम गरम हलुआ खाओ। डरो नहीं, नीचेवाले लाला की दूकान का आँटा नहीं है।

मैंने अपने को संकट से निकला हुआ जान, लम्बी-लम्बी साँस लेनी शुरू की और रामचन्द्रजी के बाहुपाश से अपने को मुक्त करते हुए कहा—हलुआ फिर खाऊँगा, हलुआ अच्छी चीज़ है, पहले एक तार मेरी माँ को दे दो कि मैं कुशलपूर्वक अपने गन्तव्य पर पहुँच गया।

रामचन्द्र ने हँसते हुए कहा—क्यों खैरियत तो है, पूरे पूरे तो आ गये दिखाई पड़ते हो, या कोई अंग यात्रा की इस जान जोखिम में छूट गया?

—छूट तो जाता लेकिन छोड़ा नहीं मैंने। पर तुम्हारी साइकिल ने तो मुझे अन्धा बनाने का संकल्प-सा कर लिया था। बड़ी मुशकिल से मैं उसे हतोत्साह कर पाया।

रामचन्द्रजी मुग्ध दृष्टि से हलुए को देख रहे थे। मैंने और अधिक देर उनके और हलुए के बीच खड़े होने को निर्ममता की पराकाष्ठा समझ अपनी बात जल्दी से खतम की।

मेरी आवाज़ सुनकर रामचन्द्र की माँ और मौसी चौके में से निकल

आयीं। लेकिन उनके आते आते हम लोग हलुए का काम तमाम कर चुके थे, इसलिए निश्चिन्त होकर मैंने उन्हें प्रणाम करते हुए कहा—अपनी बहू को आपने नहीं बुलाया ?

मौसी ने उत्तर दिया—क्या करें बेटा, घर गुज़र-बसर लायक़ भी तो हो। इस घर में भला बहू रह सकती है ?

माँ ने बहुत सादगी से कहा—मुन्नी (रामचन्द्र) घर ढूँढ़ रहे हैं। जैसे ही कोई घर मिलेगा, बहू को बुला लूँगी।

रामचन्द्र को लगा जैसे इन दो बुढ़ियों ने उसके घाव पर नमक छिड़कना ही अपना काम बना लिया है। मौसी अगर मुर्गा हलाल करने-वाली छूरी हाथ में लिये घाव करने को उद्यत हैं तो माँ भी हाथ में नमक की डिबिया लिये खड़ी हैं, काम पड़ते ही झट निकालकर भुरभुरा देंगी। बेचारे बालों में हाथ फेर रहे थे, शायद हलुए का घी पोंछ रहे हों। माँ और मौसी को यों अपना मन्तव्य प्रकाशित करते सुना तो लगा कि इस महँगी के जमाने में भी जैसे किसी ने उन पर बहुत-सा मट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा दी हो। बालों को किसी दृढ़ संकल्प के साथ तानते हुए भुनभुनाये—मकान नहीं तुमको तो महल मिला जाता है !

माँ ने मुझको लक्ष्य करते हुए कहा—बेटा, हमारे बाराबंकी में भी मकान की तकलीफ है, लेकिन ऐसी तकलीफ तो वहाँ भी नहीं।

रामचन्द्र को दूसरी गोली लगी। चिढ़कर बोले—हाँ तो यह बाराबंकी नहीं अलाहाबाद है, प्रयागराज जहाँ लोग मरने के लिए भी आते हैं और जीने के लिए भी और कुछ ऐसे भी जो मकान तलाशने की इसी हड़बड़ी में अब तक नहीं तय कर पाये हैं कि दोनों में से क्या करें !

अम्मा ने क्रुद्ध होकर कहा—कैसी बात बोलते हो मुन्नी।

मुन्नी तो गरम तवा हो रहा था। यह बात उस पर पानी की एक बूँद की तरह पड़ी और छन्न से हो गयी—मैं तुम लोगों से पूछता हूँ कि मुझे बिना बताये तुम इस तरह क्यों चली आयीं ?

प्रतिवादी निरुत्तर था।

रामचंद्र ने मार्शल जुकोव की आधुनिकतम रणनीति के अनुसार दुश्मन को एक बार दबा पाने पर फिर उभरने का मौका न देते हुए ताबड़तोड़ चोटों पर चोटें मारना शुरू किया—तुमने क्या यह समझा था कि मैं झूठ बोल रहा हूँ?

मौसी और अम्मा दोनों की समवेत मुद्रा से यह स्पष्ट था कि वे क्रमशः अपने भांजे और पुत्र पर झूठ बोलने का लांछन तो कभी लगा ही नहीं सकतीं, उँहुक्, कभी नहीं, मुन्नी कभी झूठ बोल सकता है, पूरब का सूरज चाहे पच्छिम—

परम धनुर्धर रामचन्द्र ने अपने पहले तीर को निशाने पर लगा जान, दूसरा तीर चलाया—तब क्या समझा था तुमने, मुझे तुमसे चिढ़ हो गयी है? मैं तुम्हारा चेहरा नहीं देखना चाहता, तुम्हें बुलाना नहीं चाहता?

दोनों बहनें चित्रलिखित-सी खड़ी थीं—झंझा और तूफान की इस घड़ी में एक दूसरे को सहारा देती हुई। दोनों के मुखमंडल पर एक अत्यन्त निरीह भाव खेल रहा था। एक दूसरे को दृष्टिभर देखकर उन्होंने मानों घोषणा की—मुन्नी हमेशा से बहुत मुहब्बती रहा है। मुन्नी में यह बात तो है।—और उनके मुखमंडल पर जैसे वात्सल्य रस की गगरी छलक गयी।

पर वात्सल्य की उस अपूर्व छटा ने भी रामचन्द्र की क्रोधाग्नि में शायद घी का ही काम किया। लेकिन अब उसने अपने बिगड़ैल मन-तुरंग को वश में करते हुए, शब्दों को अलग अलग तोड़कर, अपनी बात को खूब समझाते हुए कहा—चट मँगनी पट बियाहवाला जमाना अब गया। तुमने सोचा होगा, हाँ हाँ ठीक लिखता होगा मुन्नी, होगी मकान की दिक्कत, जरूर होगी, लेकिन ऐसा भी क्या, हम लोग पहुँच जायँगे तो आप ही एड़ीचोटी का जोर लगायेगा, अभी मुमकिन है पूरी कोशिश भी न करता हो।.......

कुछ कहने के लिए मा के होंठ फड़के लेकिन फड़ककर ही रह गये, उससे ज्यादा कुछ न कर सके। रामचन्द्र हमेशा से ऐसा ही है, जो काम करता है पूरे दिलोजान से, और फिर वह किसी को मैदान में टिकने थोड़े ही देता है। रामचन्द्र सड़क कूटनेवाले इंजन की तरह अपनी बातें कूट-कूटकर मा और मौसी के दिमाग में बिठाल देना चाहता था जिसमें फिर कभी उनसे यह भूल न हो। इस समय रामचन्द्र अपने वर्तमान की नहीं भविष्य की रक्षा कर रहा था। वर्तमान को तो साँप ने डस ही लिया।

चालिस सेर का एक मन और सत्ताइस मन का एक टन, रामचन्द्र ने सौ टन का हथौड़ा मा और मौसी के सिर पर पटकते हुए अपनी बात समाप्त की—अब हुआ न वही जिसके डर के मारे मैंने चिट्ठी लिख दी थी। अब तुम कुछ जानती बूझती तो हो नहीं, गाँव और शहर से बड़ा फर्क होता है— हाँ हाँ बाराबंकी अलाहाबाद के मुकाबले गाँव ही है।

मौसी ने प्रतिवाद करते हुए कहा—नहीं बाराबंकी भी कोई छोटा शहर नहीं है।

रामचन्द्र ने देखा कि दुश्मन हथियार डालने के बजाय फिर सर उठा रहा है। उसे फिर तलवार उठानी पड़ेगी। बोला—हाँ हाँ तुम्हारा क्या बिगड़ा, मरन तो मेरी हुई। मकान ढूँढ़ते ढूँढ़ते.......

बगलवाले घर के कोठे पर बनिये की स्थूलांगी लड़कियाँ अपना 'फोनू-ग्राफ बाजा' बजा रही थीं—

बिरहा अगिन जला—य। बनिये का तो ग्रामोफोन, कुछ बिगड़ गया था, रेकार्ड आगे खिसकता ही न था और बेतहाशा बजाये जा रहा था—

बिरहा अगिन जला—य, बिरहा अगिन जला—य और फिर भारतीय बैंड के झय्यम झय्यम के ढंग पर जल्दी जल्दी बजाने लगा—जलाय जलाय जलाय जलाय.......

व्यथा का सरगम

आज अमावस की रात है। गहरी। काली। नीरव। निःस्तब्ध। केवल दूर पर कुत्तों के भूँकने की आवाज़—और कुछ गीदड़ों की। मनुष्य की आवाज़ तो गाने की एकाध कड़ी के रूप में कभी-कभी सुनायी पड़ जाती है, किसी रिक्शेवाले के किसी रोमांटिक फिल्मी गाने की एक कड़ी। वर्ना सन्नाटा।

पास के ही किसी घर से शहनाई का व्यथाकुल स्वर आ रहा है। शहनाई भी अजब बाजा है जो दुख-सुख दोनों में समान रूप से आदमी का साथ देता है। आज न जाने क्यों सुरेश्वर...

....मगर आप उसे क्या जानें। आपने शायद कभी उसे बीन बजाते नहीं सुना। जब वह आँख बन्द करके बीन के तारों पर अपनी उँगलियाँ दौड़ाने लगता है तो विश्वास ही नहीं होता कि यह सुरेश्वर जो सामने बैठा है, उसकी अभी उठान पर की उम्र है, उसने अभी कुल तीस वसन्त देखे हैं। उसके स्वरों से प्रवाहित होनेवाली व्यथा की उस सरिता में जिसने भी एक बार नहाया उसका रोम-रोम जैसे काँप उठा और उसे लगा मानों अनेक पतझर और शिशिर बजानेवाले की अस्थि और मज्जा में जाकर बस गये हों।

सुरेश्वर रेलवे के एक आफिस में क्लर्क है। रेलों की घड़घड़ाहट और फाइलों की थकान को अपनी बीन के स्वरों में बाँधकर उसने उन्हें नया ही रूप दे दिया है। दिन-भर की दौड़-धूप के बाद रात को यही उसकी शान्ति का निर्झर है, यही उसका सहारा है, कवच है, मानों यह न हो तो दफ्तर की फाइलें उसे खा जायँगी। रात को अपना कमरा बन्द करके (जिसमें पड़ोसियों की नींद न खराब हो!) वह अकसर बड़ी देर तक बजाता रहता है। रात की इन घड़ियों का एकान्त उसे बहुत प्रिय है। वह चाहता है कि जल्दी ही सो जाय जिसमें दूसरे रोज आफिस में उसकी आँखें लाल न रहें, मगर अकसर होता यही है कि गयी रात तक वह अपनी बीन में खोया रहता है और समझता रहता है कि किसी बिन्दु पर पहुँचकर घड़ी की सुइयाँ अचल हो गयी हैं।.......

हाँ तो आज न जाने क्यों सुरेश्वर का मन उदास है। शहनाई का वह पतला स्वर खंजर की तरह उसके दिल के अन्दर उतरता चला जा रहा है। एक अजीब-सी वेदना, एक अजीब-सा दर्द उसे अपने अन्दर समो रहा है। उसकी बीन आज खामोश है। आज तो वह बस सुन रहा है, शहनाई के स्वर की वह बंकिम कटार उसके अन्दर उतरती ही चली जा रही है। सुरेश्वर जानना चाहता है कि अपने उतार और चढ़ाव में वह उससे क्या कहना चाहती है, पीड़ा की वह कौन-सी अतल गहराई है जिसे छू लेने का उसने संकल्प किया है। शहनाई का स्वर उसके गहरे से गहरे मन में एक अत्यन्त सुन्दरी पार्वत्य युवती का आकार ग्रहण कर रहा है। यह युवती किसी क्रूर दैत्य द्वारा शापित है, उसका सखा खो गया है, उसके परिजनों ने उसे छोड़ दिया है और उसे अकेले ही अपनी व्यथाओं का पर्वत ढोना है। उसकी मुखश्री तुहिनस्नात मटर के फूल के समान है, उसके कपड़े हिम के सदृश धवल हैं। पर उसकी मुखमुद्रा को जैसे किसी गहरी उदासी का धुआँ लग गया है।

......शहनाई के स्वर को इस मानस-चित्र में बदलकर सुरेश्वर उसी

को देखता हुआ खोया-सा, ठगा-सा बैठा था। हठात् जैसे किसी ने उसके कंधे पकड़कर उसे झँझोड़ा और होश में ला दिया। और तब उसे पता चला कि वह अपने आपको छल रहा था। जो मानस-चित्र उसकी आँखों के आगे आ रहा है वह शहनाई के स्वर का चित्र नहीं है, मांस-मज्जा की एक वास्तविक तरुणी का चित्र है जिसे उसने आज ही शरणार्थियों की गाड़ी से उतरते देखा है। वह हजारा जिले की एक सीमान्त-देशीय हिन्दू पठान तरुणी का चित्र है...जब शहनाई ने किसी भयानक दर्द को अपने स्वरों में बाँधने की कोशिश की तो वह व्यथासुन्दरी आप से आप उसकी आँखों के आगे आ गयी, समुद्र के फेन से निकलती हुई वीनस के समान.......

....हाँ, सचमुच वीनस...उर्वशी...तक्षशिला की सुंदरी...सरो के पेड़ की-सी सुघर लंबाई, स्वस्थ यौवन से भरपूर छरहरा शरीर, सीमान्त के कागजी बादाम जैसी ही आँखें, चंदन-सा गौर, सुसंस्कृत मुखमंडल, लंबी-सी वेणी। मगर सबके ऊपर अंगराग के स्थान पर उदासी का एक गहरा लेप जो चेहरे के भाव को आमूल बदल देता है। उसे देखकर कोई उच्छृंखल भाव जैसे पास पर भी नहीं मार सकता; देखने के साथ ही उसे लगातार देखते रहने की इच्छा होती है, एकटक, मगर उसके साथ ही साथ पूरे वक्त जैसे कोई भीतर बैठा एक बड़ी तकलीफदेह कड़ी गुन-गुनाता रहता है......

सुरेश्वर ने आज ही तो उनके रहने की जगह देखी। धन्यभाग जो दूसरा महायुद्ध हुआ, वर्ना न लड़ाई होती, न मिलिटरी की बारकें बनतीं और न आज मनुष्य की पशुता से भागकर शरण माँगनेवालों को टिकने का कहीं कोई ठिकाना होता! शरणार्थियों को ये बनी-बनायी बारकें यों

मिल गयीं गोया इन्हीं के लिए बनायी गयी हों। इन्हीं बारकों में अपने घर-बार, खेती-किसानी, दुकानदारी से उखड़े हुए लोग अपना सारा सामान लिये-दिये पड़े थे। टीन के बड़े बकस, मँझोले बकस, छोटे बकस, खाटों के पाये-पाटियाँ, सुतली या बाध सब अलग-अलग, मोड़कर रखी हुई चटाइयाँ, एकाध बाल्टी, लोटा, थाली, कनस्तर—किसी-किसी के पास अपना हुक्का भी। यही उनकी सारी गिरस्ती थी। इसी गिरस्ती से घिरे-बँधे वे इस नयी दुनिया में अपने लिए जगह बना रहे थे। बीवियाँ कुँए से पानी ला रही थीं या रोटी पका रही थीं और बच्चे धूल में सने, कुछ सहमे-सहमे-से खेल रहे थे, लोहता की खाक का मिलान हजारा की खाक से करके यह पता लगा रहे थे कि पशुता के कीटाणु कहाँ ज्यादा हैं और अपने ज़ेहन से उन डरावनी शक्लों को निकालने की कोशिश कर रहे थे जिन्होंने उनकी नादान जिन्दगी को भी चारों तरफ से डर की रस्सियों से कस दिया था।

यहीं इसी नयी दुनिया में उस शाम को सुरेश्वर ने उस व्यथासुंदरी को हलके-हलके रोटी सेंकते देखा था....

...और उसकी विपत्ति की कहानी सुनी थी एक ऐसे आदमी से जो बन्नो की पुरानी दुनिया में भी उसका पड़ोसी था और आज इस नयी दुनिया में भी, जिसकी दीवार उठ ही न पाती थी, क्योंकि वह आदम के बच्चे की हाड़तोड़ ईमानदार मेहनत की पुख्ता नींव पर नहीं बल्कि पब्लिक की दया की थोथी भुसभुसी नींव पर आधारित थी! सुरेश्वर के यह पूछने पर कि उन्हें यहाँ कैसा लगता है, जिला हजारा की रहनेवाली उस व्यथा-सुन्दरी बन्नो के पड़ोसी उस अधेड़ आदमी ने जो बात कही थी वह सुरेश्वर को भूलती नहीं—किसी की भीख के टुकड़े पर जिन्दा रहने से ज्यादा लानत की बात दूसरी नहीं होती, बाबूजी! उसी से सुरेश्वर को यह भी पता लगा

था कि बन्नो की शादी हाल ही में हुई थी उसी गाँव में, जब कि मारकाट शुरू हुई। उसके आदमी को कातिलों ने नेज़ा भोंक कर मार डाला और इसे उठाकर ले गये। फिर बन्नो ने वहाँ क्या क्या देखा और कैसे एक रात जान पर खेलकर वह भाग निकली और छुपते-छुपाते दूसरे भागनेवालों के संग जा मिली, इसकी एक काफी साहसिक कहानी थी।

वह अधेड़ आदमी जब शाम के धुँधलके में एक छोटी-सी चारपाई पर बैठा यह किस्सा सुना रहा था, उस वक्त उसकी नायिका बन्नो इतने भयानक अनुभवों, पीड़ाओं और साहस को अपने उस नाजुक शरीर में समेटे खामोशी के संग रोटियाँ सेंक रही थी। उसी खामोशी से अपनी तकलीफों को सहते-सहते वह कुछ-कुछ विक्षिप्त-सी हो गयी थी, बोलने या हँसने में भी अब शायद उसे तकलीफ होती थी। उस दुनिया की तमाम और चीजों के संग जिनमें उसकी असमत और उसका पहरेदार भी था, उसका बोलना और हँसना भी जलकर राख हो गया था। पाँच हजार या पचास हजार साल पहले आये किसी भूडोल में उसकी जिन्दगी के बिला पलस्तर के, टूटे हुए मकान में (अभी उसकी शादी को हुए ही कै दिन थे !) उसकी उमंगों के पंछी भी जहाँ-तहाँ मरे पड़े थे ; जो कभी सर्द लाशें थीं वही अब ठठरियाँ हो गयीं थी और शीशे की तरह चमकीले किसी पत्थर में गोया हँसी बीच में ही रुक गयी थी, मुँह खुला का खुला ही रह गया था !

२

बारक के पास ही कुआँ था। कुएँ के पास ही एक कोठरी-सी थी। पता नहीं, लड़ाई के दिनों में वह किस काम में आती थी, अब तो वह खाली पड़ी रहती है, लड़के दिन के वक्त उसमें लुकते-छिपते हैं।

आज शाम के साढ़े सात-बजे उसमें अचानक बड़ी जान आ गई थी। बन्नो पानी भरने गयी तो थोड़ी दूर पर ही उस कोठरी से उसे किसी के

चीखने या चीख के जबर्दस्ती रूँध दिये जाने की हलकी-सी आवाज आयी, हलकी मगर पैनी। कुछ मर्द आवाजों की फुसफुसाहट भी उसके कानों में पड़ी। उसने तय किया कि पता लगाना चाहिए। पानी लेकर लौटी। पानी रखा। एक कार्निस पर से अपना खञ्जर उठाया और चली।

वह कोई दस गज़ की दूरी पर रही होगी जब कि कोठरी में के किसी आदमी ने कुछ खोजने के लिए एक दियासलाई जलायी जो भक् से बुझ भी गयी।

बन्नो ने देखा कि चार-पाँच आदमियों ने एक नौजवान लड़की को ज़मीन पर दाब रखा है, लड़की चित लेटी हुई है या लिटायी हुई है, उसके तन पर एक भी कपड़ा नहीं है, दो-तीन जवान उसके हाथ-पाँव कसे हुए हैं और वह मादरजाद नंगी लड़की छटपटा रही है......

कुछ खास जोशीले 'शरणार्थी' नौजवानों के गिरोह ने आज शिकार किया था। उनका खून भी खून है, पानी नहीं, उन्हें बदला लेना आता है, वह अपनी जिल्लत का बदला लेंगे, अपने धर्म की किसी लड़की की लुटी हुई अस्मत का बदला वह दुश्मन की लड़की की अस्मत लूटकर चुकायेंगे!

पास के एक गाँव से पाँच-छः नौजवान कुछ चोरी और कुछ सीना-जोरी (यानी एक-दो आदमियों को घायल करके) एक लड़की को उठा लाये थे और इस वक्त बारी-बारी से उसकी अस्मत लूटकर न सिर्फ अपने वहशीपन को खूराक पहुँचा रहे थे बल्कि उसके साथ ही साथ अपनी कौम की खिदमत भी कर रहे थे!

एक लमहे को जो दियासलाई जली थी उसमें बन्नो ने इन कौम के खादिमों को अपने कर्तव्य में रत देख लिया!

उसे बात समझने में जरा भी देर नहीं लगी। एक तो स्थिति यों ही दियासलाई की लाल-सी रोशनी में इन्सान की हैवानियत की तरह स्पष्ट थी,

दूसरे बन्नो......उसे भी क्या कुछ बतलाने की जरूरत थी ? वह जो कि खुद ऐसे ही एक नाटक की नायिका रह चुकी थी !

बन्नो के भीतर बैठे हुए पशु की आत्मा को गभीर सन्तोष मिला, गहरी तृप्ति का सुख......इसे ऐसे ही चीर डालना चाहिए......इसी का खुदा उन जानवरों का भी खुदा है......इसे यों ही चीर डालना चाहिए......

बन्नो के भीतर ही भीतर पैशाचिक उल्लास की एक लहर दौड़ गयी।

मगर कोई डेढ़-दो मिनट के अन्दर ही एक विचित्र मरोड़ के साथ एक दूसरी लहर उठी—साँप काटने पर आदमी को जो लहर आती है वह लहर, उसमें झाग निकलती है !

बन्नो को लगा कि जैसे वह एक बड़े आइने के सामने हो। जो लड़की जमीन पर मादरजाद नंगी, चित लेटी है वह वही है, बन्नो, उसी को आधी दर्जन बाँहें जमीन से चिपकाये हुए हैं और भेड़ियों जैसी भूखी-भूखी ये आँखें वही हैं जो पहले भी उसे यों ही घूर चुकी हैं......

'कौन है, कौन है, यहाँ क्या हो रहा है ?' चिल्लाती हुई वह खंजर हाथ में लिये तेजी से कोठरी में दाखिल हुई। अन्दर खलबली मच गयी। एक-दो ने पहले भागने की कोशिश की, मगर फिर सबने यही तय किया कि देखना चाहिए माजरा क्या है, हमारे काम में खलल डालनेवाला यह कौन-सा शैतान ज़मीन पर उतर आया।

बन्नो ने एक-दो जवानों पर हमला किया, मगर वे सधे हुए खिलाड़ी थे, बच गये और बन्नो की तरफ लपके कि उसके हाथ से खंजर छीन लें, मगर इसके पहिले कि वे ऐसा कर पायें, बन्नो ने बिजली की तेजी से दौड़कर उस लड़की के पेट में खंजर भोंक दिया था और वही खंजर अपने सीने में चुभा लिया था।

खाद और फूल

खाद

काला, लंबा, तीक्ष्ण, मेधावी चेहरा। मुँह के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल जानेवाली उसकी वह खास हँसी, जो उसकी स्वाभाविक हँसी नहीं है, जो परिस्थितियों के विरुद्ध उसका कवच है, जो नित नये लोगों से परिचय प्राप्त करने के लिए उसका विज़िटिंग कार्ड है, जो चालीस साल की उमर में सीखा हुआ उसका आखिरी सबक है जिसे उसने एक कुशाग्र विद्यार्थी की तरह बीस ही दिन में अच्छी तरह सीख लिया है। विवश यायावर जीवन की भयानक अनिश्चितता झेलते-झेलते उसका चेहरा बुझे हुए पत्थर के कोयले की तरह हो गया है, स्याह, खुरदुरा। उस बुझे हुए चेहरे में अगर अब भी कोई चीज़ ऐसी है जो बुझी नहीं है, जो अंगारे की तरह दहकती है तो वह है एक जोड़ा आँखें। ये आँखें ही अब उस अतीत का अता-पता देती हैं जो कि कभी था और अब नहीं है।

यह जो लगभग पाँच फ़ुट सात इंच का आदमी, टुइल की कमीज़ बाँह मोड़कर पहने, धोती बंगाली ढंग से लपेटे, बाटा की सस्ती, रबड़ की स्लि-

पर पहने मेरे सामने खड़ा है, उसके बाल उसके रूखे चेहरे से भी ज्यादा रूखे हैं। (तेल की तरह चिकना अगर कुछ है तो उसकी हँसी !) सर पर घने बालों का एक गुच्छा। ये बाल ही अब उसकी ज़िन्दगी में बरगद की छाँह हैं। छाँह-तले पेशानी पर झुर्रियाँ भी हैं।

और......

'विपत्ति किस पर नहीं पड़ती, किसी पर आज पड़ती है किसी पर कल। मैं मानता हूँ, Sir, कि मुझ अकेले पर यह बिपत नहीं आयी है; खुद मेरे कनवाय में एक लाख आदमी थे। ऐसी ही और न जाने कितनी जिंदगियाँ जल कर राख हो गयी हैं, जिनकी राख भी अब आपको ढूँढ़े नहीं मिलेगी।......हम भी कभी खुश थे,.......मगर उसे जाने दीजिए... वह तो अब एक तकलीफदेह सपना हो गया है। अब तो अकेली अस-लियत यह है कि हम खानाबदोश हैं और यह दुनिया रेफ्यूजी कैंप है। यों तो धरती बदस्तूर अपनी धुरी पर घूम रही है, दुनिया की सभी चीज़ें अपनी जगह पर कायम हैं, लीडरों के लंबे-चौड़े बयान भी बदस्तूर छप रहे हैं, कहीं कुछ नहीं बदला है, सिर्फ हम हैं जिनका कहीं कोई ठौर-ठिकाना नहीं है, जो फुटबाल की तरह इधर से ठोकर खाकर उधर जाते हैं और उधर से ठोकर खाकर इधर आते हैं। माफ़ कीजियेगा साहब, मैंने देखा है कि लोग अब रेफ्यूजी नाम के जानवर के साये से भागते हैं......गोया यूँ ज़माने की ठोकरें खाना हमें भाता हो, गोया अपनी इस बेग़ैरत ज़िंदगी के लिए ज़िम्मेदार हम हों ! हम तो लड़ना नहीं चाहते थे, हम तो जहाँ भी थे खाते-कमाते खुश थे, लड़ाई झगड़े से हमें क्या वास्ता ? मैं था और हमारा तीन जनों का परिवार था। हम अपनी जिंदगी से बहुत खुश थे......मगर उस बात को अब बारबार रटने से फायदा !......आप मुझे

खब्ती कहें, सनकी कहें, बुरा कहें, लेकिन मैं यह जरूर कहूँगा, आप मुझे यह कहने से नहीं रोक सकेंगे कि हमारी तबाही के लिए जिम्मेदार ये बड़े-बड़े लीडर हैं जिनके बयान रोज़ अखबारों में छपते हैं। उन्हें अपने आपसी झगड़े सुलझाने थे, लेकिन घोंसले उजड़े हम गरीबों के, उनके ऐशो-आराम में जरा फर्क नहीं आया......Sir, यह मैं कहता जरूर हूँ लेकिन यह न समझिएगा कि मैं किसी का बुरा चेतता हूँ। मैं किसी का बुरा नहीं चेतता। मैं तो भगवान् से बस यही प्रार्थना करता हूँ कि वह सबको खुश रक्खे, आबाद रक्खे और किसी को अगर सख्त से सख्त सजा देना ही चाहता है तो उस पर खड़े-खड़े बिजली गिरा दे मगर उसका घर न उजाड़े......उसे रेफ़्यूजी न बनाये! परमात्मा दुश्मन को भी यह दिन न दिखाये......इससे तो मौत अच्छी, हजार बार अच्छी......' कहकर उसने एक लंबी साँस ली। थोड़ी देर खामोश रहा, फिर ज़रा रुकते-रुकते बोला—

'कभी ऐसा भी था कि अपनी तकलीफ किसी से कहने के पहले ही मेरी ज़बान जैसे जल जाती थी, लेकिन अब......अब वैसा क्यों नहीं होता? क्या इसलिए कि अब मैं रेफ़्यूजी हूँ......यानी बेग़ैरत भिखमंगा। अपनी दूसरी कीमती चीजों के साथ शायद मैं अपनी वह सबसे बेशकीमत चीज अपनी ग़ैरत भी वहीं छोड़ आया हूँ, तभी तो आपके पास बैठकर यों कतरनी की तरह ज़बान चला रहा हूँ गो कि मैं आपके लिए अजनबी हूँ और आप मेरे लिए......लेकिन नहीं, रेफ़्यूजी के लिए कोई अजनबी नहीं होता, रेफ़्यूजी सबको जानता है, सऽबको!........'

और वह मुसकराया। मैं खामोशी से उसकी बात सुनता रहा।

'मैं धर्मशाले की जिन्दगी की अपनी इन स्याह अँधेरी रातों में जमीन पर पड़ा-पड़ा अकसर यह सोचता हूँ—सोचता क्या हूँ सोचने की ताकत भी अब कहाँ है यह खयाल बरबस आ जाता है कि अगर सिर्फ हम दो होते, हमारा लड़का न होता तो हमारी जिन्दगी का क्या नक्शा होता......पांपि-

याई और हड़प्पा के मिटे हुए शहरों की तरह शायद वह भी कबकी नक्शे पर से मिट गयी होती, बहुत पहले ही हमारी जिन्दगी ने मौत की चादर ओढ़ ली होती और तब हम यों दरदर न भटकते होते। यकीन कीजिए कि मैं बात बढ़ाकर नहीं कह रहा हूँ। न जाने कितनों ने आत्महत्या कर ली, दुनिया को उसका क्या हाल मालूम है, वे हजारों मुर्दे तो अब कभी गवाही देने न आवेंगे!......हमें भी थोड़ी-सी संखिया मिल सकती थी.......और यों तो उन दिनों छुरियों का भी कुछ अकाल न था! अरे जो मरना चाहता हो उसकी राह भला किसी ने रोकी है।......

'मेरी पत्नी भी मेरे संग मरने को तैयार थी, लेकिन हम इतने अभागे थे कि मर भी नहीं सके। हमने लड़के के चेहरे की ओर देखा तो हमारी हिम्मत छूट गयी और हमने तय किया कि अगर कभी मरने की नौबत आयी तो हम तीनों ही जहर खा लेंगे......लड़के को भेड़ियों की इस बस्ती में......(मगर यह मैं क्या कह रहा हूँ मेरा दिमाग़ ठीक नहीं है मुझे ऐसी बेहूदा बात नहीं कहनी चाहिए)'......कहकर वह ज़रा ठिठका, उसकी आँखें मेरे चेहरे पर जमी रहीं। उसमें पता नहीं क्या बात थी कि उसका डर जैसे दूर हुआ और उसने कहा, 'सच, हमने यही तय किया कि लड़के को भेड़ियों की इस बस्ती में अकेले छोड़ने से कहां अच्छा यह होगा कि हम तीनों खून के बुलबुलों (दुनिया में पानी अब कहाँ है : अब तो हर चहार तरफ खून का समुन्दर ही लहरा रहा है!) हाँ, खून के बुलबुलों की तरह मिट जायें और छोड़ जायें सिर्फ एक दाग़......

'.......और ऐसे लाखों दाग़ ही तो आनेवाली नस्लों को यह बतलायेंगे कि मेंहदी की तरह खून से रची हुई यह धरती कभी इंसानों की बस्ती थी।......मगर यह फिर मैं क्या वाही तबाही बकने लगा!'.......

थोड़ी देर चुप रहने के बाद आवेश में आते हुए वह बोला—अगर इस क्रूर परमात्मा ने हमें वह दिन भी दिखाया तो मैं आपसे सच कहता हूँ कि अपने बेटे को जहर मैं अपने हाथ से दूँगा, मैं जो

कि उसका बाप हूँ ! मैं अपनी जिन्दगी की रोशनी अपने इस फटे हुएदामन, इस हाथ से बुझा दूँगा। मैंने अपने सीने को चीरकर दिल को काट फेंका है, वहाँ अब सिर्फ ईंट और पत्थर हैं ! मैं अपने हाथ से उस फूल को मसल दूँगा जिसके लिए मैंने अपनी जिन्दगी की खाद बना दी है ताकि उसमें महक पैदा हो, ताज़गी और चमक पैदा हो। और भूलिएगा मत कि यह भयानक बात और कोई नहीं खुद लड़के का बाप बोल रहा है जिसे सिर्फ़ दो चीज़ों पर नाज़ है—

मैंने बीच में टोंकते हुए कहा—एक तो अपने फूल पर, दूसरे ?

उसने उसी संजीदगी से कहा—इस बात पर कि उस फूल की खाद मैं ही हूँ और उस हद तक उसकी महक और ताज़गी का राज़दाँ भी हूँ !

फिर वही खिसियाई हुई सी हँसी जिसमें कुछ यह भाव था कि ऐसी बात भी क्या कोई किसी से कहता है और सो भी आजकल जब ज़मीन एक खुश्क चटियल रेगिस्तान हो गयी है ! कोई पाँच मिनट वह अपने में डूबा खामोश बैठा रहा, फिर उठते हुए बोला—अगर यह लड़का न होता तो मेरी जिन्दगी का मरहला बहुत आसान होता। ज़हर मैं न भी खाता तो बूट पालिश कर सकता था, बिपत पड़ने पर आदमी क्या नहीं करता लेकिन—

इसके आगे वह कुछ न कह सका। ज़ब्त का बाँध टूट गया और आँख में आँसू छलछला आये। उसने जल्दी से अपनी कमीज़ का दामन आँख पर लगाकर हटा लिया और फिर मुसकराया—वही मुसकराहट जिसे अब मैं खूब पहचानता हूँ। जी में तो आया कह दूँ खुलकर रो ले, मुझे छले नहीं, लेकिन कह नहीं सका।

फूल

वह अठारह-उन्नीस साल का गोरा छरहरा तरुण.......किशोर। चेहरे के गोरे रंग में एक अजब पीलापन है जो न तो ताजे फूल का है न बासी

फूल का। मसें भींग रही हैं। मुझे नहीं लगता कि वैसा सरल अबोध चेहरा मैंने पहले कभी देखा हो। आँखें सदा नमित। लाज की प्रतिच्छवि। छुई-मुई। उसे लड़की होना चाहिए था तब वह किसी चाहनेवाले के दिल की रानी बनता। मर्द बच्चे में इतनी लाज किस काम की कि आँखें या तो ज़मीन को तक रही हैं या दूसरी दिशा में दूर कहीं, बोलनेवाले से आँख मिलाते ही नहीं बनती उससे। पता नहीं उसकी दूर कहीं ताकती हुई उन आँखों की वजह से या उनकी खूबसूरत बरौनियों की वजह से या चेहरे के रंग की वजह से या मन का भाव चेहरे पर दरस जाने की वजह से या शायद इन सभी बातों के मिले-जुले असर से, मैं कुछ ठीक नहीं कह सकता, उसको देखते ही अनायास मन में यह भाव आता है कि वह कोई सपना देख रहा है, आपके पास बैठा तो है मगर आपके पास है नहीं, जैसे पूरे वक़्त उसकी आँख के सामने पर्दे पर तसवीरें आ-जा रही हों और वह उन्हीं में खोया हुआ हो, जैसे सपने का एक झीना रेशमी आवरण किसी ने उसके चेहरे पर डाल दिया हो या जैसे किसी ने सपने को चंदन में घोलकर उसके चेहरे पर मल दिया हो—चेहरे का यह भाव ही हजार चेहरों के बीच भी उसकी ख़ास अपनी पहचान है। नज़र पड़ते ही यह चेहरा जैसे कुछ दूर सरक जाता है और धुँधला-धुँधला हो जाता है और देखने-वाले को ऐसा लगने लगता है कि जैसे किसी आधुनिक ऋषिपुत्र को, जिसने शहरों के गली-कूचों और बाज़ार-हाट से कहीं दूर, बहुत दूर, किसी वन-प्रान्तर में संगीत और साहित्य की ही साधना की है, यकायक भीड़ में, चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया गया हो और उसकी समझ में खाक-पत्थर कुछ न आता हो कि वह कहाँ पर है या उसे किधर जाना है। लिहाज़ा वह खोया सा ठगा सा दिग्भ्रान्त सा खड़ा है। बस खड़ा है और आँखें बारबार मलता है जैसे कोई सपना आँख की किरकिरी की तरह गड़ रहा हो या जैसे उसे अपनी आँख पर यकीन न आता हो कि जो कुछ वह देख रहा है ठीक है या ग़लत, या शायद इतना भी नहीं कि आखिर

वह क्या देख रहा है—यह कैसी जगह है ? यहाँ तो कहीं संगीत की स्वर-लहरियाँ नहीं, यहाँ तो गधे रेंकते हैं, बच्चे भूख से रिरियाते हैं, औरतें चिल्लियों की तरह आपस में खाँव खाँव करती हैं और मर्द खरीद-फ़रोख्त करते हैं (अपने ईमान की भी !) यहाँ फ्रांसीसी भाषा का लोच कहाँ, इटालियन भाषा की मिठास कहाँ, यहाँ तो लोग हृदय के भाव को सुन्दर ढंग से व्यक्त करने के लिए बात नहीं करते, बात वह इसलिए करते हैं कि उनका पेट भरे या इसलिए कि वह दूसरे को ठग सकें।...उस स्वप्न-धवल चेहरे पर शायद कहीं यह याचना भी है कि कोई उसको यह बता दे कि इन बुझे बुझे से चेहरों की रोशनी कौन चुरा ले गया और यह भी कि उन्हें कब, आखिर कब खबासत के इस कोढ़ से नजात मिलेगी और वे दुनिया की खूबसूरत चीजों को बिना डरे देख सकेंगे।

मैंने उससे कहा—मैंने सुना है कि तुम फ्रेंच जर्मन वग़ैरः बहुत सी जबानें जानते हो ?

उसने आँखें नीची कर लीं।

मैं समझ तो गया कि इसका अर्थ स्वीकृति है, लेकिन तब भी—

'क्यों ?'

तब उसने आँखें नीची किये किये, काफी धीमी लेकिन संयत आवाज में कहा—जी हाँ, कुछ भाषाएँ सीखी तो हैं। अभी जर्मन मुझे ठीक से नहीं आती।

मैंने कहा—मुझे तुमसे बड़ी ईर्ष्या होती है मित्र।

उसने कोई जवाब नहीं दिया, न आँखें ऊपर उठायीं, बस खिन्न ढङ्ग से मुसकरा दिया, हलके से। उसकी वह हँसी मुझे नामुनासिब सी लगी, जरा और गहरे उतरा तो थोड़ा दर्द महसूस हुआ। चेहरे

के उस भोलेपन के साथ इस हँसी का मेल नहीं बैठता। यह हँसी ठीक नहीं।

थोड़ी देर खामोशी रही। फिर मैंने पूछा—संगीत की शिक्षा तुमने कहाँ ली?

उसने जैसे झिझक दूर करने की कोशिश करते हुए कहा—कलकत्ता, बंबई, ग्वालियर, जयपुर जगह जगह घूमघूमकर मैंने उस्तादों से उनकी कुछ खास खास चीजें सीखी हैं।......गिरिजा बाबू मुझे अपने लड़के की तरह मानते थे—

—'थे' के क्या मतलब, अब वह नहीं हैं?

—नहीं, उन्हें मरे छः महीना से ऊपर हो गया। मैं बड़ा अभागा हूँ। उस्ताद अलादिया खाँ से भी मैं ज्यादा दिन नहीं सीख सका। उनके संग मैं छः महीने रहा बंबई में, फिर वह भी चल बसे। मैं सचमुच बड़ा अभागा हूँ।

उसका आना-जाना बना रहा। इसी तरह कई दिन बीत गये। एक रोज झुटपुटे के वक्त मैं कमरे में अकेला बैठा हुआ था। कमरे के सभी दरवाजे मैंने बन्द कर दिये थे और बिजली जला ली थी। झुटपुटे का वक्त कुछ अजब सा होता है, उस वक्त जी यों भी उदास हो जाया करता है; उस दिन तो और भी उदासी, और भी सूनापन महसूस हो रहा था.......मगर किसी से मिलने को जी न चाहता था। तभी अविनाश आया। आकर खमोशी से पास ही कुर्सी पर बैठ गया। इसी तरह कोई दस मिनट बीत गये, मैं उससे कुछ नहीं बोला। उसने भी मुझे छेड़ने की कोशिश नहीं की। फिर मैंने ही उससे गाने को कहा। घर में कोई साज़ वाज़ तो था नहीं, पर तो भी उसने गाया।

.......पर कमबख्त को उस वक्त न जाने वैसा सर्द और तकलीफ़देह

गाना गाने ही की क्यों सूझी। गाना सुनकर मुझे ऐसा लगा कि जैसे मैं कोई देगची हूँ जिसे आग पर चढ़ा दिया गया है, और जैसे अब मेरी रगें टूट रही हैं। गाने के बाद फिर वही सख़्त गहरी तारीकी।

आखिर मैंने अपनी तबियत से झुँझलाकर, उसे दूसरी राह पर मोड़ने के लिए बात छेड़ी—एक दोस्त आये थे, कह रहे थे उस दिन तुमने भारती संघ में बड़ा अच्छा गाया।

उसने अपनी फीकी सी आवाज़ में कहा—सच, तो मेरा गाना कुछ लोगों को अच्छा लगा ? !

मुझे न जाने क्यों ऐसा लगा कि जैसे उसने बहुत उत्साह में भरकर यह बात कही हो। मैं उसके उत्साह को और बढ़ाने के लिए उसी ढंग की कोई और बात कहने जा रहा था लेकिन उसका चेहरा देखकर बात गले में अटक गयी : उत्साह वहाँ कहाँ था ! मुझे भ्रम हुआ। आवाज़ का फीकापन ही सच था, शब्द झूठे थे।

थोड़ी देर की खामोशी के बाद अचानक वह बोला—यह सब आखिर मेरे किस काम आया, ये तमाम भाषाएँ और यह संगीत ? ! इससे अच्छा तो यही होता कि मेरी पढ़ाई बाक़ायदा स्कूल में हुई होती : मैं कम से कम लोगों से बात करना तो सीख जाता। उसी की ज़्यादा जरूरत पड़ती है ! आप क्या ऐसा नहीं सोचते ?......

......और फिर वह मुसकराया, वही म्लान, थकी हुई मुसकराहट।

मुझे उसकी इस मुसकराहट से बड़ा डर लगता है।

अविनाश चला भी गया तब भी उसकी वह मुसकराहट बड़ी देर तक मेरे मन पर घनघोर अँधेरी रात की बिजली की तरह काँपती रही। मैं कोशिश करके भी उसको दिमाग़ से अलग नहीं कर पाता था। वह पनीली मुसकराहट यही कहती है कि जिन्दगी को फ़तह करने का सिकन्दरी

हौसला उसके भीतर दम तोड़ रहा है और जिस दिन वह दम तोड़ देगा, चेहरे की यह पीली रोशनी भी बुझ जायेगी और स्याह चेहरा निकल आयेगा......

स्याह चेहरा ?

हाँ।

उस अधेड़ आदमी ने अपना परिचय ठीक दिया था—

खाद,—काली.......नम......भुरभुरी।

फिर सुबह हुई!

लंबा क़द, लंबी-सी नाक, कुछ लंबा-सा चेहरा, नीली आँखें, आँखों पर काले, हड्डी के फ्रेम का चश्मा, भूरे बाल, उभरी हुई गाल की हड्डियाँ, उम्र चालिस के आसपास, बाल कुछ कुछ पके हुए—यह एडवर्ड्स अस्पताल की डाक्टर मिस सिमसन हैं। उनके बारे में यह मशहूर है कि उनका मिज़ाज बड़ा रूखा है। मिज़ाज रूखा है या नहीं कहना मुश्किल है, लेकिन यह जरूर है कि काम के मामले में किसी किस्म की लापरवाही या ढीलापन उन्हें मंजूर नहीं। बारह बजे के करीब जब वह अपने राउंड पर निकलती हैं तो अस्पताल में एक छोटा-मोटा भूडोल आ जाता है। कहीं एक नर्स थर्मामीटर लिये कमरे कमरे जा रही है तो दूसरी नर्स तमाम मरीज़ाओं की दवा लिये चक्कर लगा रही है, कोई बच्चा उस दिन नहलाने से रह गया है, किसी बच्चे का उस दिन वज़न नहीं लिया गया.......

बोलती वह बहुत कम हैं, डाँट-डपट भी नहीं करतीं, लेकिन उनकी वह निगाहें ही किसी को पत्थर कर देने के लिए काफी हैं......

ज़चगी के कमरे से लौटकर मिस सिमसन अपने कमरे में चली गयीं।

एक सिगरेट जलायी और आरामकुर्सी पर लेटकर लंबे-लंबे क़श लेने लगीं। बरसों से अस्पताल उनके जीवन का ऐसा अंग हो गया है कि उनकी दिनचर्या ही अस्पताल की दिनचर्या है या (इस बात को यों भी कह सकते हैं कि) अस्पताल की दिनचर्या ही उनकी दिनचर्या है। काम के मामले में वह एक जीती-जागती, चलती-फिरती मशीन हैं इसलिए कभी-कभी आदमी शक करने लगता है कि डाक्टर सिमसन किसी क़िस्म की भावनाओं से शून्य हैं। अब बात जो हो, इस वक्त उनकी मुद्रा कुछ और ही कहानी कह रही है और जो कुछ उससे अनकहा छूट जाता है, उसको मुँह से निकलते हुए धुँए के बादल पूरा कर डालते हैं। आँखें सामने को तक रही हैं मगर शायद देखतीं किसी को नहीं। अभी बूढ़े हेडक्लर्क अस्पताल का हिसाब-किताब समझाने के लिए अकाउंटबुक लिये दरवाजे में आकर खड़े हुए थे, कोई दो मिनट इस इन्तजार में खड़े रहे कि डाक्टर उन्हें अन्दर आने को कहेंगी, क्योंकि डाक्टर की निगाहें उन्हीं की तरफ थीं, लेकिन जब उन्होंने कोई इशारा नहीं किया तो बेचारे लौट गये।

एक सिगरेट खत्म हो गयी तो उन्होंने टिन में से दूसरी सिगरेट निकाली और पहली सिगरेट से उसे जला लिया, और पहलीवाली राखदानी में डाल दी। वह धुँए के बादलों का बनना-बिगड़ना देख रही थीं, उनकी आँखें तबतक उनका पीछा करती रहतीं जबतक कि वे हवा में खो न जाते। रह-रह कर उनकी आँखें मुँद जातीं और हाथ बालों में उँगलियाँ दौड़ाने लगते।

आज उनका जी कुछ उचाट हो रहा था। तबियत को बहलाने के लिए उन्होंने एक मेडिकल जर्नल उठा लिया और उसके पन्ने पलटने लगीं। पन्ने पलटते-पलटते उनकी नज़र एक रंगीन इश्तहार पर गयी—एक बहुत ही खूबसूरत, तन्दुरुस्त बच्चा (सर पर बालों का गुच्छा, गुलाबी गुलाबी गाल) गोया उन्हें देखकर बेअख्तियार मुसकरा रहा था। मिस सिमसन ने जर्नल बंद कर दिया और आँखें मूँद लीं। फिर खूब खींच

खींचकर सिगरेट पीने लगीं। फिर उठकर बाहर बरामदे में आ गयीं। उनकी प्यारी सनफ्लावर, राजकन्या के समान बाहर बागीचे में खेल रही थी। उसके बड़े बड़े कान जमीन को छूते थे, और उसकी खाल चमक रही थी। उसका अंग अंग फड़क रहा था। मिस सिमसन ने उसको आवाज़ दी। वह झट दौड़कर आ गयी। उन्होंने लपककर उठा लिया, उसका गाल अपने गाल से लगाया, उसके बालों में हाथ फेरा। जी कुछ-कुछ बहला तो, मगर फिर भी तबीयत साफ़ नहीं हुई। उनका चिरसंगी सिगरेट मुँह से लगा हुआ था और आकाश की तरह स्वच्छ नीली आँखों में आकाश का-सा ही सूनापन भी था। शून्य की उस निविड़ शान्त झील में अगर कोई चीज थी वह थी अव्यक्त व्यथा की एक चटुल शफरी जिसे उन्होंने कब का मृत जान लिया था मगर जो अब भी कभी कभी नयी नयी सान पर चढ़ायी हुई चमचमाती छुरी की तरह नीले पानी का दिल चीर देती है.......

उनसे कोई दस गज़ की दूरी पर उस बच्ची का भाई खेल रहा था जो आज उनकी देखरेख में धरती पर गिरी थी। यह लड़का भी आज से तीन साल पहले ......लड़का क्या था, सचमुच गुलाब की एक कली। गोराचिट्टा जिस्म, हलके गुलाबी गाल, घुँघराले बाल, गोल गोल हाथ पैर, बड़ी बड़ी चमकदार आँखें—डाक्टर सिमसन को लगा कि वही मेडिकल जर्नलवाला बच्चा यहाँ भी उनका पीछा कर रहा है......मगर वह तो उनका नहीं एक तितली का पीछा कर रहा था—

अस्पताल से लौटकर जब वह अपने घर पहुँचीं तो उन्हें ऐसा महसूस हुआ कि वह घर ही उनकी क़ब्र है। अपने बोझिल पैरों को घसीटती हुई जब वह कपड़े बदलने के लिए अपने ड्रेसिंग रूम में गयीं तो उन्होंने उसे ऐसी अजनबी निगाहों से देखा जैसे शहर से बहुत दूर कहीं किसी खँडहर

को देखने आयी हैं। कमरे की शहतीरों और कार्निसों को भी उन्होंने बहुत गौर से देखा कि कहीं चमगादड़ तो नहीं लटक रहे हैं, कहीं अबाबीलों ने घोंसले तो नहीं बना रक्खे हैं। चमगादड़ कहीं नहीं था मगर उसके स्याह, डरावने, मौतनुमा पंखों की फड़फड़ाहट उनके कानों में बज रही थी......

अभी उन्होंने कपड़े भी नहीं बदले थे जब बैरे ने बाहर से ही आवाज़ दी : मेमसाहब, मेज़ लगा दी है।

बैरे की आवाज भूख-प्यास और जिम्मेदारियों से शल इस धरती की आवाज थी।

वह उठीं, मगर आज शीशे के सामने जाने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। वह क़दे-आदम आईना वहाँ उस कोने में रखा हुआ था। माना कि उनकी जवानी ने अभी आखिरी अलविदा उनसे नहीं कही है यानी माना कि अभी उनके दिल में उमंगें जिन्दा हैं और जिस्म से कभी कभी प्यास की चिनगियाँ छूटती हैं जो एक-एक रंग और रेशे को तिलमिलाहट से भर देती हैं लेकिन वह उस आईने का क्या कर लेंगी अगर किसी के चेहरे की एक झुर्री ने (मिस सिमसन जानती हैं कि वह उनका चेहरा नहीं है!) या किसी के एक सफेद बाल ने (वह बाल उनका नहीं है!) उसमें से झाँककर उन्हें मुँह चिढ़ा दिया? नहीं, वह आईने के सामने नहीं जायेंगी, क्या आईने के सामने गये बग़ैर कपड़े नहीं बदले जा सकते?!

मेज पर खाने की चीजें बहुत थीं, मगर मेज सूनी थी, निचाट सूनी।

'जानवर और आदमी में यही तो फ़र्क़ होता है, जानवर खाने का भूखा होता है, आदमी खाने से ज्यादा संग-साथ का भूखा होता है। मैंने

सारी जिन्दगी जानवरों की तरह पेट भरा है, मेरी जिन्दगी जानवर की जिन्दगी है.......

'......हाँ यह सही है कि मैं कभी कभी दोस्तों को खाने पर बुला लेती हूँ। अभी पिछले इतवार को मैंने मिस सिलविया इड्स को बुलाया था, उसके पहलेवाले इतवार को जेन का परिवार आया था......यहाँ जेन बैठी थी, वहाँ उसके सामने उसका पति बैठा था, इधर, हाँ इसी जगह पर जेन की वह प्यारी प्यारी सी लड़की स्ट्रॉबेरी बैठी थी, वहाँ स्ट्रॉबेरी के सामने निक्सन बैठा था। निक्सन किस क़दर शरीर है......उस दिन मेज़ कैसी भरी भरी सी लगती थी......और आज !....और सदा !... मैं उस दिन भी इस जगह बैठी थी, आज भी इसी जगह बैठी हूँ और जिन्दगी भर इसी जगह इसी तरह बैठी रहूँगी। काश कि कोई मुझे पत्थर कर देता !......

' मेरी मेज़ पर एक भी चीज़ कभी क्यों नहीं टूटती, एक भी रकाबी, एक भी गिलास ? उस दिन स्ट्रॉबेरी के हाथ से छूटकर एक गिलास टूट गया था। गिलास कीमती था, मुझे प्यारा भी वह कम न था, लेकिन उसके टूटने से उस दिन मुझे रत्ती भर दुःख नहीं हुआ, बल्कि अन्दर ही अन्दर मुझे अच्छा लगा, बहुत अच्छा।'

खाना खाकर डाक्टर सिंमसन ड्राइंग रूम में गयीं और रेडियो खोल कर वहीं सोफ़े पर बैठ गयीं। जैज़ से उनको सदा से बड़ी नफ़रत है, उसको वह हब्शियों की हुल्लड़बाज़ी कहती हैं, लेकिन आज उनको वही अच्छा लग रहा था। जैज़ सचमुच बहुत अच्छी चीज़ है, उसमें बेपनाह शोर मचता है !

कोई आधी रात का वक्त रहा होगा जब मिस सिमसन चौंककर जाग

गयीं। कोई बुरा सपना देखा होगा। मिस सिमसन ने फिर नींद बुलाने की बहुतेरी कोशिश की, मगर वह एक बार जो फिरंट हुई तो फिर न आयी। बेचारी बिस्तरे में पड़ी-पड़ी करवटें बदलती रहीं। और सर में उनके ढोल बजता रहा। आँख खुली रहने पर तो उतना नहीं, मगर आँख मूँदते ही मेडिकल जर्नलवाला वह बच्चा, लॉन पर तितली के पीछे दौड़ता हुआ वह गोल गुलाबी लड़का और स्ट्रॉबेरी और निक्सन सब न जाने किन दरवाजों से घुस आते और वहीं धूम मचाने लगते।

यह प्रेतलीला जब उनके लिए असह्य हो गयी, तो उन्होंने बिजली जलायी, अपनी डायरी निकाली और उसमें लिखा :

'मैं अपनी जिन्दगी से बुरी तरह ऊब गयी हूँ।........जब मैं कहीं भी बाहर से लौटती हूँ तो मैं यह नहीं चाहती कि यह भुतहा मकान कब्र की तरह अपना सीना खोले बाहें फैलाये मेरी अगवानी में खड़ा रहे...क्यों मेरा कोई आदमी नहीं है जो मुझे अपनी मजबूत, फौलादी बाहों में समेटकर मेरे होठों को चूम ले, जो मेरे बच्चों का बाप हो?...कोई मुझे 'डार्लिंग' कहकर क्यों नहीं पुकारता?...कोई मुझे 'ममी' कहकर क्यों नहीं पुकारता? कोई मेरा दामन पकड़कर क्यों नहीं खींचता? मैं किसी के मक्खन की तरह नर्म और गुलाब की तरह गुलाबी गालों पर अपने ये झुर्रीदार गाल क्यों नहीं रख पाती?....मैंने क्या कसूर किया था जो ये नेमतें मेरी न हुईं?...सैकड़ों बच्चे मेरे इन हाथों से जमीन पर आये हैं मगर खुद मेरा कोई भी नहीं जिसे मैं अपना कहकर गले से लगा लूँ......

सनफ्लावर पास ही सो रही थी। सिमसन ने उसे उठाकर अपने बिस्तर में सुला लिया, बिजली बुता दी और फिर उसके जिस्म पर न जाने कब तक हाथ फेरती रहीं। फिर कब उनकी आँख लग गयी, यह भी उन्हें पता नहीं चला। जब आँख खुली तो अच्छी तरह सुबह हो गयी थी, सूरज की पहली किरनें कमरे में नाच रही थीं। आज उठने में थोड़ी देर हो गयी थी।

जल्दी-जल्दी तैयार होकर, चाय पी कर जब डाक्टर मिस सिमसन अस्पताल पहुँचीं, तब धूप उनके सारे बरामदे में फैल चुकी थी। धूप में धुला पुँछा फ़र्श चमक रहा था, कुर्सी-मेज़ें चमक रही थीं, नर्सों के झक सफेद कपड़े चमक रहे थे, लॉन की हरी दूब चमक रही थी, फूल चमक रहे थे, तितली का प्रेमी वह फूल-सा लड़का चमक रहा था, आदमी को सेहत देनेवाला वह सारा कारखाना चमक रहा था, कहीं सुस्ती या गन्दगी या सुस्ती की गन्दगी नहीं थी.......

यहां तक कि अब डाक्टर मिस सिमसन का चेहरा भी सेवा की लगन और इंसान की मुहब्बत की रोशनी से चमक रहा था।

सुबह हो गयी थी.......

कोंपलें

प्रेऽम कहानी सखि सुनत सुनावे ऽ ऽ ऽ वे ऽ ऽ

—उमाशशि

सख्त गर्मी थी। बदन में जैसे आग-सी लगी हुई थी। पंखे से भी लू निकल रही थी। रात का कोई ग्यारह बजा होगा। बिस्तरे पर पड़ा मछली की तरह तड़प रहा था, न इस करवट चैन मिलती थी न उस करवट। बिस्तरे पर पानी छिड़का मगर तब भी चैन नहीं, वह पानी मेरी नंगी पीठ को तर क्या करता उल्टे मेरी पीठ जलते तवे की मानिन्द उसे फ़ना कर देती। चार-छ मच्छर उस गर्मी और गर्म मगर तेज हवा में भी अपना काम किये जा रहे थे, नतीजा यह होता कि मैं अपनी उस बौखला-हट की हालत में कभी टखने पर चपत मारता, कभी गाल पर, कभी और कहीं। बदन का कोई हिस्सा खुलाभर मिल जाय। और ये मच्छर भी अब न जाने कैसे होने लगे हैं, जहां काट लेते हैं अठन्नी के बराबर चकत्ता पड़ जाता है और खुजलाते-खुजलाते बुरा हाल हो जाता है, फिर घण्टों वह जगह जलती रहती है। गर्मी से गोया मेरा कुछ कम बुरा हाल हो, मच्छरों

को भी इसी वक्त सारी दुश्मनी निकालने की सूझी। मेरा सारा शरीर जल रहा था गर्मी से और मच्छरों से और दिल जल रहा था.......

....नहीं नहीं, प्रेम से नहीं। सच मानिए यह गर्मी शिवजी के तीसरे नेत्र की तरह कामदेव को झुलस देने के लिए काफी है, और फिर मेरे ये मच्छर कामदेव की लाश पर खड़े होकर उनकी आत्मा की शान्ति के लिए एक से एक अच्छे आर्यसमाजी गीत गायेंगे......

मेरा दिल जल रहा था इस मरदूद शहर बनारस की रौनक पर जहां के लोग इस गर्मी के आलम में भी एक अँगौछे, गंगाजी, भंग-ठंडई, पान और मनमोहनी जर्दा और 'रतन' या 'शहनाई' के गानों के सहारे गर्मी को टेंगा दिखाकर मस्त साँड की तरह इधर-उधर टहलते रहते हैं। बनारस में शायद लोग गर्मियों में सोते ही नहीं, क्योंकि रात के किसी पहर में आपकी नींद खुले (आखिर आप तो भले आदमी हैं, रात को सोयेंगे ही, परमात्मा ने रात और बनायी किस लिए है !) आप पायेंगे कि पान और मिठाई की दूकानें खुली हुई हैं, एक-एक हजार कैंडिल पावर के बल्बों से दिन की तरह रोशनी फैली हुई है और कुछ अलमस्त लोग कुर्सियों पर बैठे तानें छेड़ रहे हैं, अगर तानें नहीं छेड़ रहे हैं, तो एक दूसरे को छेड़ रहे हैं गुद-गुदा रहे हैं, दिल्लगियों का बाजार गर्म है और हँसी के फौव्वारे छूट रहे हैं। यहाँ वाले आल्हा-वाल्हा नहीं गाते, शायद ही कोई बौड़म आल्हा गाता हो आल्हा जंगली चीज़ है, यहाँ वालों की ज़बान पर या तो सिनेमाई धुनें चढ़ी हैं या बिरहे और एक से एक नंगे, मादरज़ाद नंगे पूरबी गीत और दादरे और अब तो कजलियों के दिन आ रहे हैं जब रात-रात भर कज-लियों के दंगल होंगे और तमाम लोगों (खासकर रिक्शेवालों और मस्त शहरी साँड़ों) के होंठों पर पान की लाली ही की तरह एक से एक रसभरी, मदभरी कजलियाँ होंगी जो निशीथ की निस्तब्ध वेला में रात के सीने को चीर कर किसी कामातुर पक्षी की पुकार की तरह गूँज उठेंगी और लोगों को सोते से जगा देंगी। मैंने जिस गाने की एक कड़ी आपकी दिलचस्पी के

लिए कहानी के शुरू में रख दी है, वह वही है जो एक खास बुलन्द आवाज़ के रिक्शावाले के मुँह से एक तीर की तरह छूटी और आकर मेरे सीने में चुभ गयी। आँख खुल गयी। बड़ी कोशिश-काविश के बाद झपकी लगी थी। बड़ा गुस्सा आया। सो जाने पर गर्मी और मच्छर सबसे नजात मिल जाती है। अब फिर वही टखने खुजलाइए और करवटें बदलिए! वाह री मस्ती!

तभी किसी ने घर का दरवाजा जोरों से खटखटाया और मेरा नाम लेकर पुकारा।

'सत्यवान, अरे तुम इतनी रात को...'
'हाँ, अभी ही तो गाड़ी से उतरा हूँ।'
'यों अचानक? न चिट्ठी न पत्री?'
'चलो ऊपर सब बतलाता हूँ।'

ऊपर चलकर सत्यवान ने मुझे जो कुछ बतलाया वह अब मैं आपको बतला दूँ, अब किसी किस्म का डर नहीं है, सत्यवान थकान के मारे पड़ते ही सो गया है, अभी रात का सिर्फ डेढ़ बजा है और मैं मच्छर मारता पड़ा हूँ। कहानी कहना लाख बेमसरफ चीज़ सही, मगर मच्छर मारने से तो अच्छा ही है, इसलिए आइए आपको उसकी कहानी...उसकी प्रेम-कहानी....सुना दूँ....

मगर आप सबसे पहिले यह जानना चाहेंगे कि यह सत्यवान आखिर हैं कौन। बहुत मजे की चीज़ हैं, किसी जमाने में मेरे सहपाठी थे। हाई स्कूल से एम० ए० तक हम लोग साथ साथ पढ़े, पढ़ने में बड़ा तेज था सत्यवान, उसका सदा फर्स्ट क्लास आया, मगर दिमाग में उसके कोई कीड़ा जरूर था। गाँधीजी के आप परम भक्त थे, पढ़ने से जो वक्त बचता उसमें या तो अनासक्ति योग का पाठ करते या चर्खा चलाते, यहाँ तक कि

चर्खा-दंगलों में शरीक होते (कोई हद नहीं है इंसान के गदहपन की !)। त्याग और तपस्या का ऐसा भूत मेरे शेर पर सवार था कि वह मोटे से मोटा, बिल्कुल टाटनुमा खद्दर पहनता और कोल्हापुर का मोटा बदशकल चप्पल। यह तो हज़रत की हुलिया थी। और कीड़ा ? वह जो एक मर्तबा दिमाग़ में घुस गया तो घुस गया, उसे वहाँ से निकाले कौन।

हाँ सत्यवान में एक बात ऐसी थी जो मुझको भी बुरी न लगती थी : उसका सदा सबकी मदद को तैयार रहना। कुछ लोग उसकी भलमंसी का बेजा फायदा भी उठाते थे, मगर हमें उनसे क्या बहस। हमें तो सत्यवान से काम है। होस्टल में कोई बीमार पड़ा और फिर देखो सत्यवान को। और भी कोई काम किसी का अटकता तो वह सत्यवान को ही गुहार लगाता और सत्यवान भक्त की सहायता के लिए नंगे पैर ही दौड़ पड़ते। उन्हें विष्णु भगवान् का छोटा-मोटा अवतार ही समझिए, न जाने कितने गजों और अजामिलों को उन्होंने तारा होगा ! और इतना ही नहीं जनशिक्षा की जलती मशाल भी उनके हाथ में थी... और भाई, मेरी तरह कुछ नाकारे उसका मज़ाक़ भलेही उड़ा लें, लेकिन यह बात अपनी जगह पर अटल है कि उसके विंग का नौकर—भला-सा नाम था उसका......हाँ, रामरूप—चार बरस में इतनी हिन्दी सीख गया था कि रात को सबका बिस्तर-विस्तर बिछाने के बाद खा पीकर प्रेमचन्द की कहानियाँ पढ़ा करता। दिन में लोगों के कालेज चले जाने पर मैंने भी उसे किताब हाथ में लिये देखा था। दूसरे नौकर जब खूब शोर मचाकर मेस में कोटपीस खेलते, रामरूप कहानी की किताब पढ़ता। यह सत्यवान की बरकत थी।...... हाँ तो भई यह बात तो सत्यवान में थी। इससे तो इनकार नहीं किया जा सकता।

लेकिन कीड़ा तो उसके दिमाग़ में था—कीड़ा यही कि उसे दुनिया की सफलता की ज़रा चिन्ता नहीं, कीड़ा यही कि उसे अपनी फिक्र कम दूसरे की फिक्र ज्यादा, बीमार कोई है नींद आपकी हराम है—यह दिमाग़

का कीड़ा नहीं तो और क्या है! इसी दिमाग़ के कीड़े ने जो जोर मारा तो सत्यवान जी जेल के फाटक के उस पार खड़े दिखायी दिये। सन् बयालिस में लोगों पर आम तौर से जो पागलपन छाया उससे सत्यवान भला कैसे अछूता रह सकता था। लिहाज़ा उन्होंने भी यहाँ-वहाँ दो एक तार के खंभे गिराये, छपरे के पास कहीं किसी रेल की पटरी के बोल्टू ढीले करने की कोशिश की और पकड़ गये। दो साल जेल में काटे। छूट कर आने के कुछ महीने बाद सुना कि सत्यवान कम्युनिस्ट हो गये। यह उनके दिमाग़ के कीड़े की नयी करवट थी। पता नहीं वह कीड़ा कभी उन्हें चैन लेने देगा भी या नहीं—

यह सत्यवान का अब तक का इतिहास है। हुलिया बतानी और बाकी है। गेहुआँ रंग, ज़रा ज्यादा गोल-सा मगर खुशनुमा चेहरा, चेहरे पर एक खास तरह की सादगी और स्वच्छता। मँझोला कद, धोती-कुर्ता पहनते हैं......बस इतना काफी है, वह कोई छोकरी तो हैं नहीं कि मैं आपको उनकी आँख-कान-नाक सब का नकशा बतलाऊँ और बतलाऊँ कि उनके बाल कितने बड़े हैं, बालों का क्या रंग है, आँखों का क्या रंग है, वगैरः वगैरः। सत्यवान तो अच्छे खासे मर्द हैं और अपनी मर्दुमी का सबूत देने ही तो काशी पधारे हैं।

हाँ तो अब आप उनकी प्रेम कहानी सुनने के अधिकारी हैं—

मगर सच पूछिए तो उनकी प्रेम कहानी में कोई दम नहीं है, कम से कम मेरी राय तो यही है। 'माया' की मार्च सन् ३७ या मई सन् ४१ या अगस्त सन् ४५ या जनवरी सन् ४७, कोई भी अंक उठा लीजिए, आपको वैसी एक नहीं ग्यारह कहानियाँ मिल जायेंगी। अरे वही पिटीपिटाई बात—मास्टर साहब ने ट्यूशन किया लड़की को अर्थशास्त्र या गणित पढ़ाने के लिए और......और रफ़्ता रफ़्ता रफ़्ता रफ़्ता रफ़्ता रफ़्ता.........

......और अब देखिए न सत्यवान को, आखिर क्यों बारह बजे रात मेरे ऊपर नाज़िल हुए हैं, इसीलिए न कि उन्हें शादी करनी है......शादी

करनी है ! मगर यह क्या तरीका है, बाराती कहाँ हैं, बैण्ड कहाँ है, कुछ है या यों ही शादी होगी ? ! शादी करनी है, हिश्ट, अकेले आये चोरों की तरह और अब टाँग फैलाये मच्छड़ों से अपने को नुचवाते सो रहे हैं, ये शादी करेंगे, मुँह धो रखिए जनाब, यों शादी नहीं होती। शादी करनेवालों के चेहरे पर कुछ और ही नूर बरसता है।.........और साहब लड़की ? हज़ारीबाग़ में है......खूब साहब, बड़ी खूब शादी होगी, दूल्हा बनारस में दुल्हन हज़ारीबाग़ में !......आप बुरा मानें चाहे कुछ करें, मैं तो कहूँगा और हज़ार बार कहूँगा कि ये सब ढीलमढाल बातें मेरी समझ में खाक नहीं आतीं। मैं तो भाई, हार्डवेयर का व्योपारी हूँ और सब कुछ वैसा ही चाहता हूँ, लोहे की तरह पक्का, ठोस, बिलकुल फौलाद.........

दूसरे रोज़ दस बजे दिन तक लड़की भी आ गयी ; मगर वह अपने किसी और दोस्त के यहाँ ठहरी। तब तक मुझे यह राज़ मालूम हो गया था कि यह शादी आखिर हज़ारीबाग़ में न होकर यहाँ क्यों हो रही है। बात यह है कि लड़की और हमारे ये बौड़म दोस्त सत्यवान अपने माँ-बाप की मर्जी के खिलाफ यह शादी कर रहे हैं। लड़की बंगाली ब्राह्मण है और सत्यवान जी बिहारी कायस्थ। लड़की का बाप लखपती आदमी है, बहुत बड़ा लोहे का व्यापारी है (हूँ !), शहर में दर्जनों मकान हैं जो किराये पर उठे हुए हैं। वह सख्त मक्खीचूस सही, मगर है लखपती। और इधर बेचारे सत्यवान जी के पास कानी कौड़ी नहीं। यों हैं तो वह भी एक बिगड़े हुए रईस खानदान के। कभी उनके भी बड़ी ज़मींदारी थी, लेकिन सब लालपरी की नज़र हो गयी और अब तो काफी फटेहाली है, ज्यों-त्यों लाज निभाये चले जाते हैं। अगर ऐसा न भी होता, पैसे का अगर घर में अंबार भी लगा होता तो उससे क्या ? जरा सोचिए, घर है आपका मुज़फ़्फ़र-पुर, रहते हैं आप छपरा ; घर से एक पैसा नहीं लेते; कम्युनिस्ट पार्टी का

पूरे वक्त काम करते हैं और पार्टी से जो मजदूरी मिलती है उसी से काम चलाते हैं। पिछले तीन साल से हज़रत का यही दस्तूर है......और इस वक्त तो उनके नाम वारंट है, इसीलिए छपरे में उनकी शादी नहीं हो सकी और उन्हें अलग अलग बनारस आना पड़ा......

मैं सदा से जानता था कि यह सत्यवान पूरी जिंदगी कुछ न कुछ ऊटपटाँग करता रहेगा ! कालेज के दिनों में वह गांधी जी की भक्ति, वह बीमारों की तीमारदारी, वह लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर लोगों से मग़ज़मारी, फिर वह सन् बयालिस का बवंडर, जेल की हवा, फिर उनका वह कम्युनिस्ट हो जाना, वह गिरफ्तारी का वारंट और अब उनकी यह आखिरी कारगुज़ारी यह शादी—वह बड़ा बुरा कीड़ा घुसा है इसके दिमाग़ में, वह कभी इसको चैन से थोड़े ही बैठने देगा, योंही चक्कर खिलाता रहेगा... साहब, खूब चीज़ हैं यह सत्यवान ! ठीक ही कहा है पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते हैं। मैं जानता था, खूब जानता था कि यह आदमी कोई न कोई सख्त बौड़मपने की बात करेगा। मैं फिर कहता हूँ आप ही सोचिए, ऐसी शादी के भी भला कोई माने हैं ? आप एक गाड़ी से चले आ रहे हैं अकेले, आपकी दुल्हन दूसरी गाड़ी से चली आ रही है अकेली, न आपके संग कोई भूत न उसके संग कोई चिड़िया का पूत ! अजी, तुफ़ है ऐसी शादी पर। शादी के माने तो साहब यह हैं कि नगाड़े पर चोट पड़ रही है, बैंड बज रहा है, नया जामा-जोड़ा पहने, सर पर मौर लगाये, सर से पैर तक आप और आपके बराती अच्छी तरह मुअत्तर चले जा रहे हैं चाँद-सी दुल्हन लाने......मैं तो भई ऐसी ही शादी करूँगा, मुझे यह नकटापन ज़रा नहीं भाता। माना कि आप बहुत पढ़े-लिखे हैं, आपकी बीबी बहुत पढ़ी-लिखी है (जी हाँ, वह भी एम० ए० पास है), माना कि आप बहुत बड़े क्रान्तिकारी हैं जिसके पीछे पुलिस के गिरोह गश्त लगा रहे हैं, यह सब ठीक ; मगर तब भी हर चीज़ को करने का एक ढंग होता है, एक सलीक़ा होता है। आखिर आप क्यों अच्छी धुली-पुँछी चमकती हुई थाली

और कटोरियों में खाना खाते हैं, हाथ पर रोटी रख लीजिए और खाइए, वैसे भी रोटी जायगी तो पेट ही में......

शाम को शादी थी। आर्यसमाजी रीति से। मुझे बड़ी बेचैनी थी कि कब वक्त आये और मैं सत्यवान की होनेवाली पत्नी को देखूँ। मैंने मन ही मन उसकी एक तसवीर भी खड़ी कर ली थी। बंगाली तरुणियों की कल्पना करने पर एक खास तरह के लावण्य की छवि मेरी आँखों में खिंच जाती है। उनकी हथेलियों की वह मेंहदी, उनके पैरों का वह आलता, उनके माथे की वह बिन्दी, उनके चेहरे का वह पीला-सा रंग जो न तो खिले हुए फूल का है न मुरझाये हुए फूल का, और फिर उनका साड़ी लपेटने का वह खास ढंग।

कमरे में ही विवाह की वेदी बनी थी। आग जल रही थी लिहाज़ा उसके दिल से धुआँ निकल रहा था, बेहद धुआँ। लेकिन वह ठीक से जले इस खयाल से बिजली का पंखा भी बंद कर दिया गया था, मगर आग से तब भी धुएं के बादल उठ रहे थे और हमारे जिस्मों से पसीने का पनाला बह रहा था। लोग काफी बौखलाये हुए से दुल्हन के आने का इंतज़ार कर रहे थे—

—आखिर दुल्हन को उसकी सहेलियाँ सहारा दिये हुए लायीं......

......और मैं बेहोश होते होते बचा—मेरे भीतर जो खूबसूरती का एक्सपर्ट बैठा हुआ था वह तो बेहोश हो ही गया। मेरी कल्पना का रेशमी पर्दा तार-तार हो गया, मेरी आशाओं का रंगमहल जमीन पर गिरकर रकाबी की तरह चूर चूर हो गया और मुझे लगा कि किसी ने मुझे धरहरे से नीचे धकेल दिया है और मैं गिरता चला जा रहा हूँ गिरता चला जा रहा हूँ। पता नहीं मैं कब तक इसी तरह गिरता रहा। आखिरकार जब मेरे पैर ज़मीन पर लगे और मेरी बेहोशी दूर हुई तो मैंने

देखा कि सत्यवान की शादी एक मोटी, ठिंगनी, स्याह लड़की से हो रही है, आर्यसमाजी पंडित जी जनेऊ का मंत्र शादी के अवसर पर पढ़ रहे हैं, आग अब कुछ लौ देने लगी है......

......और उसी लौ की रोशनी में मैं देख रहा हूँ कि दोनों के चेहरे पर एक अनोखी दीप्ति है, जो सामने जलती हुई आग की चमक नहीं है बल्कि भीतर झरते हुए अनगिनत झरनों की एक ऐसी ताज़गी है जो कभी बासी नहीं पड़ेगी, जिससे पीपल की कोंपलों की तरह इंक़लाब की नित नयी कोंपलें फूटेंगी......

क़स्बे का एक दिन

डोंगी पर सात आदमी बैठे हुए थे। तीन तो देहाती-शहराती यानी क़स्बाती लड़के थे, लड़के क्या, यही सत्रह और इक्कीस के बीच की उम्र रही होगी। इन तीन में से एक तो किसी महाजन का लड़का जान पड़ता था। वह पतली नाखूनी किनारे की धोती और रेशमी कुर्ता पहने था। उसके कुर्ते में सोने के बटन लगे थे। उसके सर पर सफेद गान्धी टोपी और पैर में पंप जूता था। मुँह पान से रचा हुआ था। उम्र यही सत्रह-अठारह होगी, रंग साँवला, लेकिन नमक लिये हुए। वह किसी देहक़ान रईस के घर का लाड़ से बिगड़ा हुआ लड़का दीखता ही था। उसके संग जो दो और आदमी थे वह उससे उम्र में चार छः साल ज्यादा थे। वह शकल से ही बहुत घाघ नज़र आते थे। उनके रंग ढंग कुछ ऐसे थे कि जैसे वे उस लड़के के आशिक हों; लेकिन बंसलोचन ने पहली ही नज़र में जो चीज़ भाँप ली वह यह थी कि इन दो घाघों ने मिलकर इस बनिये के लौंडे को उल्लू फाँस रक्खा है और उसी के पैसे से गुलछर्रे उड़ाते हैं, उसी के सर चाट और मिठाइयाँ खाते हैं, उसी के पैसे से सिनेमा और सरकस देखते हैं, उसी के मत्थे पान बीड़ी सिगरेट का शौक करते हैं।

तो सात में तीन तो ये लोग थे जो आपस में हँसी मज़ाक कर रहे थे और किसी सिनेमा के बारे में रायज़नी कर रहे थे। दो आशिकों में से एक बीच बीच में कोई बाज़ारू गाना गुनगुनाता था।

बाकी चार में एक कोई खद्दरधारी सज्जन थे जो या तो अपने परगने या मंडल की कांग्रेस कमेटी के मेंबर या सभापति थे या इसी किस्म के नेता या खुशहाल किसान थे। दो बारह-तेरह साल के लड़के थे और एक पैंतिस- छत्तीस का तगड़ा-सा अहीर था, अपने पीतल के घड़े लिये हुए।

बंसलोचन आठवाँ सवार था। माझी बड़े ज़ोर ज़ोर से लोगों को बुला बुलाकर डोंगी में सवार कर रहा था। बंसलोचन के यह पूछने पर कि डोंगी अब कितनी देर में खुलेगी माझी ने बड़ी मुस्तैदी से कहा—बस अब खुलती ही है बाबू.........

बंसलोचन भी अन्दर जाकर बैठ गया और दूसरी सवारियों ही की तरह डोंगी के खुलने का इंतज़ार करने लगा। मगर डोंगी न आज खुलती थी न कल। माझी बदस्तूर गला फाड़ फाड़ कर सवारियों को आवाज़ दिये जा रहा था, और डोंगी में बैठे हुए लोग, खासकर वह खद्दरधारी महाशय (उनकी त्योरियाँ पूरे वक्त चढ़ी ही रहीं) बुरी तरह झुँझला रहे थे। कोई कहता, अरे अब चलते क्यों नहीं, हो तो गये बारह आदमी ....

एक कहता : अभी हमारे सामने से दो डोंगियाँ गयी हैं जिनमें पाँच ही आदमी थे। इनको बारह सवारियाँ मिल गयीं तब भी इनका पेट नहीं भरता.........

एक कहत : न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेंगी, यहाँ धूप के मारे हमारा सर चटका जा रहा है......

एक कहता : अरे भाई चलो भी, हमें तो उतर कर बहुत दूर देहात जाना है। यहीं पर इतनी देर कर दोगे तो फिर तो आज सोलहों दंड एकादशी—

काले गठीले सख्तजान माझी पर इन झुँझलाहटों और तानों-तिशनों का कोई असर नहीं था। वह सवारियों को आवाज़ देने का काम बदस्तूर किये जा रहा था। इन बोलियों का जवाब वह या तो एक खिसियाई हुई-सी हँसी से या खामोशी से या टर्रेपन से या अपने उस पिटे हुए फ़िक़रे से अपनी समझ में लोगों की दिलजमई करके दे रहा था। लोगों को इसी तरह पेचो ताब खाते पाँच मिनट बीते, दस मिनट बीते, पन्द्रह मिनट बीते...... आधा घंटा हुआ......लोगों के माथे पर बल पड़ गये, दो-एक ने माझी को ताव दिखलाने की ग़रज़ से अपने जूतों में पैर डाले और झोला या पोटली उठायी। लोगों को बग़ावत पर आमादा देखकर माझी ने डोंगी की रस्सी हाथ में ली और उससे खेलना शुरू किया। लोगों ने समझा तरकीब कारगर हुई, जूते फिर से उतार दिये गये, झोले भी वापस अपनी जगह पर रख दिये गये, और लोग इत्मीनान के साथ बैठ गये कि डोंगी अब चलने ही वाली है। मगर कहाँ, इधर लोगों ने फिर अपने जूते खोले और उधर मक्कार माझी ने फिर रस्सी छोड़ दी।......फिर पाँच मिनट बीते, दस मिनट बीते, पन्द्रह मिनट बीते.......आध घंटा हुआ—

यहाँ तक कि बंसलोचन भी, जो बाकी सवारियों के पौन घंटा बाद डोंगी में दाखिल हुआ था, बुरी तरह उकता गया। मगर 'रामनगर, रामनगर, रामनगर जानेवाली सवारियाँ इधर, चार आने सवारी रामनगर' की आवाज़ें उठती ही रहीं और धीरे धीरे करके डोंगी में पन्द्रह सवारियाँ हो गयीं। इसी वक्त एक दूसरी डोंगी नज़र आयी जिसमें बहुत से बोरे लदे हुए थे और चार पाँच सवारियाँ थीं। अभी उसमें और सवारियों की गुंजायश थी। वह जा ही रही थी। लिहाज़ा बंसलोचन की डोंगी के कुछ हद से ज़्यादा उकताये हुए लोगों ने अपने लाठी-डंडे और झोले-झोलियाँ उठायीं और दूसरी डोंगी की ओर रुख किया। माझी ने इस बार लोगों के यह रुख-तेवर देखे तो चट उसकी समझ में आ गया कि अबकी मामला

टेढ़ा है, सवारियाँ सचमुच उतर जायेंगी। तब उसने आखिरकार और सवारियों की माया छोड़ी और नाव की रस्सी खोली।

बारे सवारियाँ बैठने के पौने दो घंटा बाद डोंगी खुली और उन ऊब और थकान से अधमरे लोगों ने चैन की एक लंबी सांस ली।

डोंगी धीरे-धीरे सरकने लगी। पानी के बहाव के खिलाफ खेना यों भी मुश्किल है और अभी तो बरसाती पानी का जोर भी खत्म नहीं हुआ था। लिहाजा डोंगी सरक रही थी, बंसलोचन और दूसरे लोग हिल रहे थे और ऊंघ रहे थे और दो लड़के माझी को डोंगी तेज करने के लिए खोद रहे थे क्योंकि वे किसी के घर जीमने जा रहे थे और उन्हें इस बात का वाजिब डर था कि कहीं इतनी देर न हो जाय कि सारा सिलसिला ही बिगड़ जाय। लिहाज़ा वे एड़ लगाये जा रहे थे मगर डोंगी पर अड़ियल टट्टू की ही तरह उसका कोई खास असर नहीं था। इस सफ़र के दौरान में एकाध आदमी ने दो-एक तानें छेड़ने की भी कोशिश की लेकिन थकान और उकताहट के मोटे पर्दे को चीरने में वह भी नाकामयाब रहीं। लिहाज़ा कुछ पज़मुर्दा तानें गलों से निकलीं और फिर गलों में ही समा गयीं। बसलोचन भी ऊँघता-आँघता चिनिया बदाम छीलता, अमरूद खाता, पानी से खेल करता जब दो घंटे बाद बनारस से रामनगर पहुँचा तो उसके सिर में हलका-हलका-सा दर्द हो रहा था। दिन का एक बज गया था। सख्त बरसाती धूप निकली हुई थी।

तीन घंटे की उकताहट, डोंगी के सफ़र से पैदा सिर दर्द और नदी से घर तक घाम में पैदल चलने से बंसलोचन का हाल खराब था। फलतः वह चूर होकर एक टुटही आराम कुर्सी पर कोई पन्द्रह मिनट आंख मूँदकर लेटा रहा।

वह कमरा कस्बे का ही एक नक्शा था, शहर और देहात का वही

अनोखा मिलाप। एक बड़ी पुरानी जर्जर आरामकुर्सी, दो तीन तीन-साढ़े तीन टाँग की दफ़्तरवाली कुर्सियाँ, एक दो छोटी मेजें, एक दो स्टूल, एक बड़ा-सा तख्ता जिस पर गन्दी मटमैली चादर बिछी हुई है और अगड़म-बगड़म चीजों का ऐसा जबरजंग अंबार लगा है कि तख्ते पर बैठने को फुटभर से ज्यादा जगह निकलनी मुशकिल है। कमरे भरमें ताक़ ही ताक़ जिनपर दुनियाभर की फुटकर चीजें रक्खी हैं—पीने की तम्बाकू का एक छोटा-सा काला-काला-सा ढेर, मट्टी के खिलौने (घर में बच्चे भी तो हैं आख़िर!) कलम-दावात, दो एक सख़्त पुरानी किताबें जिनके वर्क़ पीले हो गये हैं और जिनकी जिल्दें उखड़ चुकी हैं। पता नहीं यह किताबें कौन-सी हैं। इनमें शायद रामायण होगी, तुलसी की भी और पण्डित राधेश्याम कथा-वाचक की भी; इन्हीं में शायद मैट्रिक या मिडिल स्कूल की भूगोल, इतिहास, रेखागणित और नागरिक शास्त्र की किताबें होंगी, चन्द्रकान्ता सन्तति होगी, ग़बन और गोदान होगा—और इन्हीं में शायद 'रामराज्य' और 'काजल' के गानों की किताबें होंगी। घर का सारा पुस्तकालय इन्हीं ताक़ों पर अटा पड़ा है, हर रंग और मेल की कताबें गडमड पड़ी हैं। इन किताबों के अलावा ताक़ों पर और भी चीजें हैं जैसे साइकिल का पंप और लंप, एकाध दियासलाई बीड़ी और किसी चीज की पुड़िया। इन्हीं में से एक ताक़ पर होमियोपैथिक दवाइयों का एक छोटा-सा बक्स रखा है। कमरेभर में चार छाते चमगादड़ों की तरह लटक रहे हैं, छत की कड़ी से या खूँटी से या दरवाजे पर, या कोने में रखे हैं, छड़ी, जूते, खड़ाऊँ और पैंताबे के संग।

बंसलोचन के बहनोई रियासती कचहरी में पेशकार या अहलमद हैं। कभी किसी जमाने में वह होमियोपैथ भी थे। उस जमाने की यादगार के तौरपर उनके कमरे में उनका कलकत्ते के किसी होमियोपैथिक कालेज का

एक सर्टिफिकेट टँगा है जिसके टाइप के अक्षर भी अब बिना आंखों पर बहुत ज़ोर दिये पढ़े नहीं जाते।

पता नहीं बहनोई साहब की होमियोपैथी की लियाकत भी उनके सर्टिफिकेट की ही तरह धुँधली-धुँधली और मिटी-मिटी-सी है या उसके रंग अभी चटक हैं। वह बात चाहे जो हो लेकिन इसमें तो कतई कोई शक नहीं कि अगर उनकी बीबी या बच्ची सदा बीमार रहती है तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है। आज भी बंसलोचन ने जाकर देखा कि उसकी छोटी भांजी मुनिया बीमार है। उसका लिवर बढ़ा हुआ है, पेट आगे को निकला हुआ है, टाँगे सींक जैसी हो रही हैं, खून की कमी से सारा शरीर पीला हो गया है और चेहरा कुछ अजब डरा-डरा और उखड़ा-उखड़ा-सा है। चेहरे पर कोई ताजगी या जान नहीं है जैसे किसी ने उसका सब रस सोख लिया हो। सालभर पहले बंसलोचन ने इसी लड़की को देखा था तो वह चिड़िया की तरह फुदकती फिरती थी। साल ही भर में उसकी यह दशा कैसे हो गयी कि अब जहाँ बिठाल दी जाती है या खड़ी कर दी जाती है वहाँ से हिल नहीं पाती, यह बात बंसलोचन की समझ में बिलकुल नहीं आयी।

बंसलोचन की बहन भी अब अकसर बीमार रहा करती है। ऐसे वह गाँव की लड़की थी, तन्दुरुस्त और मेहनती, शहर की लिफाफिया लड़कियों में वह नहीं थी जो फूँकने से उड़ जाती हैं, लेकिन अब पता नह' उसे क्या हो गया है कि जब देखो तब कोई न कोई बीमारी उसे लगी रहती है, कभी पेट में बायगोला है तो कभी दाँत में दर्द है, कभी मलेरिया है तो कभी कुछ। आज भी उनके पेट में दर्द उठा हुआ था। रात भर नींद नहीं आयी थी। बहुत देर तक उनके बड़े लड़के प्रकाश ने तेल और शराब मिलाकर उनके पेट में मली थी तब कहीं जाकर कुछ थोड़ा-सा आराम आया था। सुबह से फिर दर्द का वही हाल था, न लेटे चैन था न बैठे, पेट में छुरियाँ-सी चल रही थीं, उनकी जगह पर दूसरा होता तो

मछली की तरह छटपटाता, लेकिन तकलीफ सहने की उनकी इतनी आदत थी कि चादर से मुँह तक ढँके खामोश पड़ी थीं। दर्द से उनका चेहरा विकृत हो गया था, लेकिन मुँह से आवाज़ उन्होंने नहीं निकाली। इतना ही नहीं सारे दर्द और सब कुछ के बावजूद खाना भी उन्होंने पकाया-पकवाया। यों उनकी जेठानी की बहू थी, लेकिन नादान लड़की, इतने बड़े घर का चौका उसके अकेले के मान का थोड़े ही न था। उसके भरोसे चौका छोड़ दिया जाय तो लड़के भूखे ही स्कूल जायँ और कचहरी वाले लोग भूखे ही कचहरी का रास्ता नापें। इसलिए बंसलोचन की बहन को हारी-बीमारी में भी आराम नहीं नसीब होता, उसके ज़िम्मे जो काम हैं (और सारे ही काम तो उसके ज़िम्मे हैं!) वह तो उसे करने ही पड़ते हैं, चाहे हँसी-खुशी करे चाहे रो-झींककर।.......और आज जब कि उसे सबसे ज्यादा आराम की जरूरत थी, उसे रत्तीभर आराम मयस्सर नहीं हुआ। यहाँ तक कि बंसलोचन को भी आज ही खाना-पीना होने के घंटे भर बाद पहुँचना था! बहन बंसी को चाहती बहुत हैं, लेकिन पेट में जब छुरियाँ चल रही हों और शरीर निढाल हो रहा हो, तब सारी चाहत धरी रह जाती है। तो भी जैसे भी हुआ मर-खपकर बहन ने बंसी के लिए रोटियाँ पकायीं, एक तरकारी पकायी और बड़े प्यार से खिलाने बैठीं। मगर बंसी ने बहन के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ती हुई देखीं तो उसके गले का कौर गले में ही अटक गया......यह क्या जिन्दा आदमी का चेहरा है!

छुट्टी के रोज़ खाना खाकर लंबी तानना कस्बे की जिंदगी का एक जरूरी अंग है। (कहने की जरूरत नहीं कि यह नुस्खा उन लोगों का है जिनके पास इतना अवकाश है; यह थोड़े ही न है कि अठारह घंटे खटने वाले कस्बों में नहीं होते!) बंसलोचन के पास वक्त ही वक्त था, उसे करना ही क्या था, लोगों को देखने सुनने गया था वह हो ही गया। लिहाज़ा खाना खाकर उसने जो लम्बी तानी तो साढ़े पाँच बजे शाम तक

की खबर ली। उठकर उसने मुँह हाथ धोया ही था कि सुना महाराज, काशी-नरेश, की सवारी उधर से गुजरनेवाली है : 'महाराज' रामलीला की शोभा बढ़ाने जा रहे हैं ! बंसलोचन भी बाहर घर के छज्जे पर निकल कर खड़ा हो गया। पहले बहुत से घुड़सवार सफेद और ब्राउन और चितकबरे रंग के घोड़ों पर सवार, हाथ में बल्लम लिये, हाथ के करीब ही माउज़र लटकाये निकले, घोड़ा दौड़ाते हुए आये और दुलकी चाल से निकल गये। उन्हें देखकर बंसलोचन को अनायास पुराने जमाने के सैनिकों या 'सिकंदर' फिल्म की याद हो आयी। उनके बल्लम में कदाचित् राजचिह्न भी लगा हुआ था। पन्द्रह बीस घुड़सवारों के बाद 'महाराज' की फ़िटन आयी। फ़िटन में 'महाराज' सफेद बारीक अचकन पहने थे जिसके नीचे से उनके लाल कपड़े झलक रहे थे। एक आदमी उनके पीछे बैठा मक्खियाँ उड़ा रहा था। उस वक्त यह एक अजीब-सा खयाल बंसलोचन के दिमाग़ में आया कि घोड़े को या गाय-बैल को या किसी ऐसे जानवर को ऐसे किसी की जरूरत नहीं होती जो शरीर पर से और मुँह पर से और कनपटी पर से मक्खियाँ उड़ाये ! मगर कहाँ राजा और कहाँ ये सब जानवर ! पतली सी सड़क के दोनों ओर उनकी झुकी हुई 'प्रजा' हाथ जोड़े हर हर महादेव करती और महाराज की जय जयकार पुकारती और उनके बीच से गुजरते हुए उनकी बंदगी को क़बूल करते हुए काशी-नरेश। उस समूचे दृश्य में ऐसी कोई बात थी जो बरबस चित्रपट के प्रजावत्सल महाराज विक्रमादित्य की याद दिलाती थी !

× × ×

फिर रात हो गयी। लोगों ने खाना खा लिया और सो गये।

× × ×

सुबह बंसलोचन की नींद खुली तो उसने देखा कि उसके बहनोई और उनके दोनों लड़के, और बहनोई साहब के बड़े भाई सब बगल के घर

में दाखिल हो रहे हैं। बंसी की समझ में नहीं आया कि उस घर में आग लगी है या क्या हुआ है कि सब लोग वहीं जा रहे हैं। बंसी ने अपने मन में कहा : जरूर कोई वारदात हुई है, और वह भी लपककर वहीं पहुँचा। वहाँ अच्छा खासा हड़बोंग मचा हुआ था, कोई पचीस तीस आदमी एक छोटी सी कोठरी और दालान में घुसे कचर कचर कर रहे थे। सब एक साथ बोलने की कोशिश कर रहे थे। लिहाज़ा बोल सब रहे थे और सुन कोई नहीं रहा था। पहले तो बंसलोचन की समझ ही में नहीं आया कि यह हो क्या रहा है। तीन चार आदमियों से अलग अलग बात करने पर उसे मालूम हुआ कि रात वहीं चोरी हो गयी है और ये तमाम लोग मौक़े का मुआइना कर रहे हैं। धीरे धीरे बंसलोचन को सारी बातें मालूम हो गयीं। उस कोठरी और दालान में दो विद्यार्थी रहते हैं; उनमें से एक सातवीं में और दूसरा नवीं में पढ़ता है। रात को चोर उनकी लुटिया, फूल की थाली, बटली, फूल का गिलास सब उठा ले गये, चोरों के हाथ शायद दो चार रुपये भी लगे।

बड़े बड़े दानिशमंद लोग, एक से एक क़ानूनदाँ जो क़ानून की किताबें घोट कर पी गये हैं, इस वक्त सिर हिला-हिलाकर लड़कों से बयान ले रहे थे, जिरह कर रहे थे, उन्हें सलाह दे रहे थे कि उनको ऐसी हालत में क्या करना चाहिए। बड़ी सरगर्मी थी।

चोरी गयी हुई चीज़ कभी लौटकर तो आती नहीं, इसलिए इसकी तो फ़िक्र ही छोड़ देनी चाहिए कि उन लड़कों को फिर कभी उनकी लुटिया-गिलास के दर्शन हो सकेंगे; मगर इसमें तो कोई शक ही नहीं कि आज काफ़ी चटपटे ढंग से दिन शुरू हुआ था। तलैया के सड़ते हुए, बँधे, काई-लगे पानी में ढेला फेंकने से जैसी हलचल पैदा होती है वैसी ही हलचल इस छोटी मोटी लुटियाचोरी से क़स्बे की ज़िन्दगी में भी पैदा हुई। आज की सुबह और दिनों की तरह निकम्मी नहीं थी : आज की सुबह ने तो आँख खोलते ही अपना जलवा दिखलाया था! लोगों के उत्साह का ठिकाना नहीं

था। उस तूफ़ान को देखकर यही एहसास होता था कि जैसे हीरे जवाहरात की चोरी हो गयी हो। बुझे हुए चेहरे चमकने लगे थे। यहाँ तक कि मिडिल स्कूल के मास्टर साहब भी जो उधर से निकले तो वह भी इस जादू के घेरे में आ गये। उन्होंने भी चोरी में हमदर्दी से ज्यादा दिलचस्पी दिखलायी, आगे पीछे अंदर बाहर सब तरफ़ से मुकाम को देखा, फौरन अपनी बेशकीमत राय दी कि पुलिस को खबर करनी चाहिए और बाहर आकर कुर्सी खींचकर बैठ गये। उधर से उनके एक छात्र का बड़ा भाई निकला तो उसे बुलाकर पूछा :

—संतू तीन दिन से स्कूल क्यों नहीं जाता ?

भाई ने बतलाया—उसकी उँगली में गलका हुआ है जिससे उसे बड़ी सख्त तकलीफ़ है—

—हाँ हाँ वह सब ठीक है, लेकिन तुमको मालूम नहीं था कि लड़का स्कूल न जाये तो उसकी अर्ज़ी जानी चाहिए !

—सो तो मालूम है मास्टर साहब, लेकिन इन्हीं सब परीशानियों के मारे अर्जी न भेजी जा सकी।

—न भेजिए न भेजिए, उसमें मेरे बाप का क्या बिगड़ता है। जब दो दो आने रोज़ के हिसाब से जुर्माना होगा तब आटे दाल का भाव मालूम होगा.........

कहकर मास्टर साहब ने ऐसी कठोर मुद्रा बनायी कि उसके आगे पत्थर भी पानी हो जाता। उनकी उस मुद्रा को देखकर बंसलोचन को एक अजीब बौखलाहट हुई कि उसके सामने कुर्सी पर जो आदमी बैठा है वह स्कूल का मास्टर है या कानिस्टिबिल या चुंगी का दारोग़ा ? !

दो आने जुर्माने की बात सुनकर सन्तू के भाई के होश बाख्ता हो गये थे, बेचारे मास्टर साहब की बहुत चिरौरी-बिनती करना चाहते थे जिसमें मास्टर साहब जुर्माना न करें, लेकिन मास्टर साहब ने भी कोई कच्ची गोलियाँ तो खेली नहीं थीं कि वह यह न समझते कि इस वक्त वही

सिकन्दर हैं, उन्हीं का पाया बुलंद है। पहले तो मास्टर साहब ने तनिक भी न पसीजने का अभिनय किया और बुत की तरह बैठे रहे जैसे उनके कान में आवाज ही न पड़ रही हो, लेकिन जब सन्तू के भाई ने बहुत चिरौरी की और मास्टर साहब ने जान लिया कि वह अब अच्छी तरह उनके दाँव पर आ गया है तो उन्होंने धोबीपाट लगाया और सन्तू का भाई वह सामने जाकर गिरा चारों शाने चित्त। डपटकर बोले—'अच्छा तो जाओ अच्छे से पान लगवा लाओ और देखो दो सिगरेट भी लेते आना, पासिंगशो। और हाँ आगे से इस बात का खयाल रखना। मैं बार बार माफ़ नहीं करूँगा। कायदे की पाबन्दी होनी ही चाहिए' और बंसलोचन की ओर देखकर झेंप सी मिटाते हुए जरा हँसे और बोले: अरे साहब न पूछिए, यह बड़े जाहिल लोग हैं, इतनी सी बात नहीं जानते कि लड़का स्कूल न जाये तो उसकी अर्जी भेजनी चाहिए। और फिर सन्तू के भाई को डपटकर बोले: तुम खड़े खड़े क्या सुन रहे हो!...और देखना पीली वाली पत्ती भी रखवा लेना—

× × ×

बंसलोचन को आज ही घर वापिस होना था और उसकी डोंगी का वक्त हो गया था। बहन से इजाजत लेने घर में गया तो देखा वह बिस्तर पर एकदम शान्त निश्चल लेटी हैं। बंसी को देखकर उन्होंने उठने का उपक्रम किया, लेकिन बंसी ने उन्हें उठने नहीं दिया। बंसी ने देखा कि बहन को रातभर सख्त तकलीफ़ रही है, जिसकी तसवीर उनकी आँखों में उतर आयी है; नींद उन्हें नहीं आयी है और आँखें यत्किञ्चित् लाल हैं, बाल उलझे हुए हैं।

बंसी ने बाहर मर्दानखाने में आकर देखा कि वह उसकी बहन की बीमारी की छाया से बिलकुल मुक्त है। उस वक्त वहाँ नगर-चर्चा हो रही थी जो न जाने कैसे हर तरफ़ से घूम-फिरकर उसी चोरी पर आ गिरती

थी। बंसी के बहनोई खुद कम ही बोलते हैं, इसीलिए तख्त के एक सिरे पर बैठे वह तमाम बातचीत बड़े ध्यान से सुन रहे थे, और मुनिया पास ही नंगी खड़ी, आधे पेट का फ्राक और उसके ऊपर एक बहुत ढीली-ढाली, अजीब-सी, बेमेल रंगों की पुलोवर पहने, तेल में बनी हुई चने की घुघनी खा रही थी गो उसका लिवर बढ़ा हुआ था और अभी उसका मुँह भी नहीं धुला था और उसकी आँखों का कीचड़ बह कर गाल पर आ लगा था।

बंसलोचन घाट की ओर बढ़ा जा रहा था और वह मर्दानखाने के उन बीसियों ताकों से जितना ही दूर होता जाता, उसे उनका आकार उतना ही बड़ा होता हुआ जान पड़ता (वैसे ही जैसे रोशनी दूर होने के साथ-साथ छाया का आकार बढ़ता जाता है), यहाँ तक कि उसे सारा कस्बा ही एक दैत्याकार ताक-सा जान पड़ा जिस पर उसकी बहन और बहनोई और मुनिया और सन्तू के भाई और मास्टर साहब और उन स्कूली लड़कों और उनकी लुटिया चुरानेवालों की जिन्दगियाँ फुटकर चीजों की तरह गडमड पड़ी हैं।

तिरंगे कफ़न

दुबला-पतला, पीला-सा, रोगी मगर अकल का तेज़, खाकी निकर और मटमैली-सी कमीज पहने, बिना मोजे के जूते पहने जिसकी नोक उसने ठोकर मार-मारकर सफेद कर दी है, गले में डाकियों जैसा बस्ता लटकाये वह लड़का जब स्कूल से लौटा तो उसने अपने घर के दरवाजे पर ताला लटकता पाया।

राजू का माथा ठनका—कहीं ऐसा तो नहीं हुआ...

पड़ोसी वैद्यजी के घर में घुसते ही उनकी सोलह साल की लड़की शकुन्तला मिली। राजू के अपनी कोई बड़ी बहन नहीं है और वह शकुन को ही सदा से बड़ी बहन समझता रहा है। राजू का रुँआधा चेहरा देखकर शकुन ने उसको अपनी छाती से लगा लिया। छोटा-सा राजू उसकी बाहों में बिलकुल सिमटा हुआ था। घर को इस तरह बन्द पाकर उसका जी अन्दर ही अन्दर न जाने कैसा हो रहा था, आंसू घुमड़ते तो थे मगर निकलते न थे और गला फँस रहा था।

यह बात सन् तीस की है। उन दिनों विदेशी चीजों के बायकाट और नमक सत्याग्रह का जोर था। नमक तो खैर शाम को बनता था, लेकिन

दूकानों पर पिकेटिंग तो पूरे दिन होती रहती। उसी सिलसिले में धर-पकड़ का बाजार भी गर्म था, रोज ही दो चार सौ वालंटियर पकड़े जाते।

राजू की मां बड़ी दिलेर थीं। मुजस्सिम आग समझिए। जिस काम को कोई न करता हो उसके लिए वह पेशपेश। देखने-सुनने में तो कुछ खास न थीं, नाटे कद की, दुबली-पतली, लेकिन हिम्मत और अनथक काम करने में उनका जोड़ न था। दिन-दिनभर पिकेटिंग या जुलूस या मीटिंग या चन्दे के सिलसिले में, झोला हाथ में लटकाये घूमतीं, लेकिन थकन का कहीं नाम नहीं और चेहरे पर थकन चाहे कभी झलक भी जाय लेकिन तबीयत में कोई थकन नहीं। दिनभर की दौड़-धूप के बाद दस बजे रात सोयी हैं, लेकिन बारह बजे भी अगर कोई काम आ पड़े तो झट चप्पल पहन, झोला हाथ में ले तैयार, सिपाही की तरह मुस्तैद, चेहरे पर शिकन नहीं, जबान पर शिकायत का एक शब्द नहीं। कभी कोई अगर उनसे कहता, 'आप को बुरा नहीं लगता अगर आपको कोई कच्ची नींद से जगा दे?' तो वह जवाब देतीं—मान लो थोड़ा बुरा लगा भी तो उससे क्या, आखिर काम तो जरूरी है।....काम भी करने चलिएगा और पूरे आराम की फिक्र में भी रहिएगा, दोनों बातें संग नहीं चल सकतीं। मसल आपने नहीं सुनी है 'एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय'—और फिर मैं शिकायत करूँ भी तो किससे और किस बात की? यह तो मनभाता खाजा है।

राजू का माथा इसलिए और भी ठनका था कि कल रात को खाना खाते समय उसकी मां ने बाबू से बड़े गुस्से में कहा था कि 'इस साले हफीज की अक्ल ठिकाने लगानी होगी।' राजू को भी मालूम है कि अमीनाबाद में कपड़े की सबसे बड़ी दूकान हफीज की है, उधर ही से तो उसके स्कूल का रास्ता है। उसके यहां विलायती कपड़े का सबसे बड़ा

यानी लाखों का स्टाक है। उसे बहुत समझाने की कोशिश की गयी कि यह काम ठीक नहीं है लेकिन उसके दिमाग पर कुछ ऐसी चर्बी चढ़ी हुई कि उसपर किसी बात का कोई असर ही नहीं होता। चर्बी असल में और कुछ नहीं इसी बात की है कि सारे अफ़सरान उसके बस में हैं, शहर कोतवाल को वह अपने इजारबन्द से लटकाकर घूमता है। पैसा चीज ही ऐसी है। लिहाजा बिलकुल यही किस्सा है, सोलहो आने—सैयां भये कोतवाल अब डर काहे का...

शकुन्तला ने कहा—उसी अमीनाबाद वाले हफ़ीज़ के यहां पिकेटिंग चल रही थी। उसी में बीस औरतें गिरफ्तार हुई हैं, और अम्मा भला कैसे न होतीं, वही तो उस मोर्चे की नायक थीं...जाते वक्त वह मुझ से कह गयी हैं कि राजू को जेल भेज देना, मिल जायेगा। सो चलो कुछ खा लो।

राजू ने ज्यों-त्यों कुछ खाया और उस चिलचिलाती धूप में जेल चला,—लाटूश रोड पार करके ओवरब्रिज से चारबाग़ स्टेशन और उसके भी आगे एक मील...

वहाँ घर के सभी लोग बड़ी देर से मुलाक़ात की बाट देख रहे थे।

मुलाक़ात होने पर राजू ने देखा कि मां का चेहरा पहले से भी ज्यादा खिला हुआ है। और जब उसके बड़े भाई दिनेश ने माँ को यह बताया कि उनके जत्थे की गिरफ्तारी के बाद लोगों में जोश और गुस्से का ऐसा उबाल आया कि वे पुलिस के डंडों की परवाह न करते हुए दुकान में घुस गये और विलायती कपड़ों की गाँठें निकाल-निकाल कर बाहर फेंकने और उनमें आग लगाने लगे, उस वक्त राजू की माँ का चेहरा देखने काबिल था, उनके कान खड़े हो गये थे और उनकी आँखों में एक अप्राकृतिक-सी चमक आ गयी थी, तेज़ और निर्मम...दुश्मन को पंजों में दबोच पाने पर आदिम मनुष्य का वन्य उल्लास—

दिनेश बड़े मजे में किस्सा कह रहा था—हफीज मियाँ ने लोगों के ये रंग-ढंग देखे तो उनके हाथ-पाँव फूलने लगे और वह लगे लोगों के सामने दुम हिलाने। जब उनके अफसरान उनकी हिफाजत न कर सके तो अब उसके सिवाय चारा भी क्या था। कई गाँठें जलायी जा चुकी थीं और डर था कि सारी दूकान ही जला कर खाक कर दी जायेगी। ऐसी मांदी हालत में लोगों के हाथ-पैर जोड़ कर उसने किसी तरह अपनी जान बचायी।.. किस्सा-कोताह दूकान आखिरकार बन्द हो गयी, हफ़ीज़ मियाँ की सारी अकड़ फूँ ढीली हो गयी और अब उनकी दूकान पर पचीस ताले लटक रहे हैं।

राजू की माँ ने तृप्ति की एक गहरी साँस छोड़ते हुए कहा—तो चलो, जेल आना अकारथ नहीं हुआ।

लड़ाई में जोश और अक्खड़पन जिस आदमी में होता है, जो मारने-मरने से नहीं डरता, लोग आपसे आप उसी के पीछे चलने लगते हैं। यही वजह थी कि स्वयंसेविकाओं को ऊँची तालीमयाफ़्ता, खादी की पतली-पतली साड़ी पहनने वाली बड़ी-बड़ी लीडरानियों से कहीं ज्यादा भरोसा राजू की माँ पर था, बावजूद इसके कि वह कम ही पढ़ी-लिखी थीं और बात का बनाव-सिंगार भी उनके पास नहीं था। उनमें बात बस इतनी-सी थी कि टाट जैसी मोटी खादी की साड़ी पहने वह खुद भी एक निडर, सरकश, लट्ठ वालंटियर थीं, और यही वजह थी कि उनके संग अगर औरतों को झंडा लेकर एक बार मौत की राह पर भी चलना होता तो उनके कदम भारी न पड़ते। वे औरतें कभी-कभी आपस में बात भी करतीं—मिसेज़ खत्री बहुत पढ़ी-लिखी हैं, बड़े-बड़े लीडरों से उनकी रसाई भी बहुत है, बोलती भी वह अच्छा हैं, लेकिन राजू की माँ की बात ही कुछ और है। वह सचमुच हमीं में से हैं। उनके संग काम करने में जो मजा आता है वह किसी के संग नहीं आता। वह हमारे आगे हों फिर

हमें काहे का डर ? वह पुलिस-वुलिस किसी को कुछ सेटती थोड़े ही न हैं; उनको जहां जाना है वहाँ वह जायेंगी और हजार बार जायेंगी, डंके की चोट पर जायेंगी रोक तो ले कोई माई का लाल...पुलिस नहीं पुलिस का बाप भी उन्हें नहीं रोक सकता बहुत करेगा लट्ठ मार कर गिरा ही तो देगा....उस दिन की याद नहीं तुमको (मगर हाँ, तुम नहीं थीं) जब हम लोग कचहरी पर झंडा लगाने गये थे। बाप रे बाप कितनी पुलिस उस दिन खड़ी कर दी गयी थी, उनमें घुड़सवार भी कितने थे। बाकायदा मोर्चा था। काम वह जरूरी था लेकिन करने वाला न मिलता था। तब गुप्ताजी ने राजू की माँ को अपने दफ्तर में बुलवाया और परिस्थिति उनके सामने रक्खी। राजू की माँ तो जैसे उधार खाये बैठी थीं, बोलीं—मैं औरतों को लेकर जाऊंगी। गुप्ता जी ने कहा—सोच लीजिए, इसमें खतरा बहुत है, आप के बाल-बच्चे भी हैं। राजू की माँ ने कहा—गुप्ता जी खतरा कहाँ नहीं है, और बच्चे तो भगवान के हैं। लड़ाई तो काम ही जोखिम का है। ...और फिर मैं तो यह भी समझती हूँ कि लिखी मौत कोई टाल नहीं सकता, और जब तक जिन्दगी है तब तक कोई मार नहीं सकता। गरज यह कि गुप्ता जी समझ गये कि टेढ़े आदमी से उनका पाला पड़ा है।.... और फिर बिट्टो, मैं तुम्हें क्या बताऊँ वह दफ्तर से बाहर आयीं तो उनके अंग-अंग से जैसे चिनगारी छूट रही थी, या जैसे किसी ने शेरनी का बच्चा चुरा लिया हो। उनकी यह आनबान देखकर तो हम लोगों में न जाने कहाँ की बला की हिम्मत आ गयी और वही औरतें जो सहम कर अपने घरों में दुबक गयी थीं अब मरने-जीने को तैयार हो गयीं।...

बिट्टो ने पूछा—तो फिर गयीं तुम लोग ?

उस औरत ने कहा—हाँ गये और डंके की चोट पर गये। हम लोग कुल मिलाकर साठ थीं। सबसे आगे राजू की माँ एक बड़ा-सा झंडा हाथ में लिये, और पीछे-पीछे हम, छोटे-छोटे झंडे लिये हुए। हम लोग जोश के साथ गाना गाते और नारे लगाते चले जा रहे थे। अच्छा ही हुआ कि

लाठी-गोली नहीं चली वर्ना हम लोग तैयार इसके लिए भी थे। राजू की माँ ने लोगों को पहले ही से खतरे की तरफ से आगाह कर दिया था जिसमें बाद में कोई दोष न दे कि बताया नहीं। पुलिस वालों ने अपनी लाठियाँ जोड़कर तीन बार हमारा रास्ता रोकना चाहा, दारोगा ने यह डर भी दिखलाया कि वह लाठी चार्ज का हुक्म दे देगा। लेकिन इसका हम पर क्या असर होता, हम तो सभी बातों के लिए तैयार गयी थीं, राजू की मा ने हमारी सबकी तरफ से कहा—आप को जो भी करना हो कीजिए, मगर बराय मेहरबानी ये बँदरघुड़कियाँ हमें मत दीजिए। हम यहाँ झण्डा लगाने आये हैं और लगावेंगे।...लाठीचार्ज करवाना कोई हँसी-खेल तो था नहीं, सारे लखनऊ शहर में तहलका मच जाता, आग लग जाती। चुनांचे उसे रास्ता देना पड़ा। बस फिर क्या था, उसी पगली रजनी ने कछोटा मारा और यह जा वह जा, लेकिन झंडा लगाकर वह उतरी नहीं है कि तब तक पुलिस की दो लारियाँ आ गयी थीं और वह सब हम लोगों को उसमें भरकर ले गये और कोई पन्द्रह मील दूर उसी मलीहाबाद वाली सड़क पर एक बीहड़ जगह में ले जाकर छोड़ आये...उस दिन कहीं तीन बजे रात हम लोग अपने घर पहुँचे। मगर उस दिन जैसा अनुभव भी हमें पहले कभी नहीं हुआ था। उस दिन पहली बार मुझे ऐसा लगा था कि जैसे मैं अपने आपे में नहीं हूँ, जैसे मैंने कोई नशा किया है, मेरे हाथ-पैर अपने बस में नहीं हैं और कोई मेरे भीतर बैठा-बैठा जैसे पूरे वक्त मुझे एड़ लगा रहा है और मैं आगे बढ़ती चली जा रही हूँ बढ़ती चली जा रही हूँ, मेरे अगल-बगल कौन लोग हैं क्या है मुझे कुछ नहीं पता, बस मेरे पैर मेरे दिल को ताल दे रहे हैं...पता नहीं ऐसा क्यों हो जाता है!.........

२

राजू की मां को दो साल की कड़ी कैद हुई।

छूटकर आयीं तब तक आंदोलन ठंडा पड़ चुका था। राजू की माँ को यह बात बहुत अजीब-सी लगी। अब कहीं कुछ करने ही को नहीं था। हाँ घर का इन्तजाम सब बिलकुल ठीकठाक करना था, सब एक सिरे से छिन्न-भिन्न हो रहा था, बिन घरनी घर भूत का डेरा बना हुआ था। कोई तो था नहीं जो देखभाल करता। अब राजू की माँ को यही काम था।

...लेकिन अभी साल भी नहीं पूरा होने पाया था, घर ठीक भी नहीं हुआ था कि राजू के पिता हैजे में चल बसे। बहुत दवा-दर्पन किया गया, लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला।

अब राजू, दिनेश और सबसे छोटी लीला का भार सँभाले राजू की माँ दुनिया में अकेली थी।

३

धीरे-धीरे करके पन्द्रह साल का जमाना एक लंबी कठिन रात की तरह गुजर गया। राजू की मां ने अपनी जिन्दगी के सबसे मुश्किल मोर्चे को सर करके अपने बच्चों का और अपना पेट पाला, उनको पढ़ाया-लिखाया, लीला की शादी की। अब वह राजू, दिनेश और दिनेश की बहू के संग उसी घर में रहती है। राजू और दिनेश दोनों ही काम से लगे हुए हैं—दिनेश की जेनरल मर्चेंडाइज़ की दूकान है और राजू डाक्टर है। अब पैसे की वैसी कमी नहीं है और कहना चाहिए कि पचीसों साल के संघर्ष के बाद अब राजू की मां का बुढ़ापा आराम से कट रहा है।

× × ×

बहुत प्रतीक्षा के बाद पन्द्रह अगस्त का ऐतिहासिक दिन आया। लोग खुशी से पागल हो उठे। उनकी सदियों की गुलामी का नागपाश कट गया था, अब वे आजाद थे। उनका जिस्म आजाद था, उनकी रूहें आजाद थीं, उनकी जिन्दगी आजाद थी। हवा में आजादी के फरेरे उड़ रहे थे। आजादी की इस महफिल के ऊपर आसमान एक नीले चँदोवे की तरह तना हुआ था और महफिल शहनाई और नफीरी की तानों और अलापों से गूँज रही थी। शहर भर में फाटक ही फाटक बने थे, कहीं बड़ी-बड़ी तसवीरें और भारत माता और नेताओं की मूरतें भी रखी हुई थीं। चारों तरफ तिरंगे की बहार थी, झंडा है तो तिरंगा, सजावट है तो तिरंगी। अशोक की पत्तियों से शहर की खुश्क नहूसत पर गांव की हरियाली का रंग छा गया है। लोग जगह-जगह टोलियों में खड़े अपने मुहल्ले की सजावट का शीन-क़ाफ़ दुरुस्त कर रहे हैं या ठिठोली कर रहे हैं। बिलकुल मेले का दृश्य है—

लोगों के घरों में भूख और गरीबी के, जेठ की दुपहर की तरह खुश्क और मनहूस, चिलचिलाते हुए रेगिस्तान फैले हुए थे, लेकिन उन पर उनकी उमंगों के सावन ने हरियाली की बरखा कर दी थी। तकलीफों से उनके पैर शल थे मगर उनकी उम्मीदें जिन्दा थीं। जिस दिन का उन्हें इतना इन्तजार था वह दिन आज था। इस दिन से उन्हें बड़ी उम्मीदें थीं, इस दिन का उन्हें बहुत आसरा था। अब उनकी जिन्दगी का एक नया दौर शुरू होगा, वह देखो आसमान में आजादी का सूरज चमक रहा है, रात खतम हुई—गुलामी की, सर्द, घिनावनी, डरावनी, तारीक रात जिसमें उल्लू बोलते हैं और सियार। अब भूख गरीबी और जहालत—अंग्रेजी सल्तनत की इन बरकतों, गुलामी की इन नहूसतों से उन्हें छुटकारा मिलेगा, अब उनकी अपनी हुकूमत उन्हें पढ़ायेगी-लिखायेगी, उनकी अक्लों को रौशन करेगी, उनकी इंसानियत को उजागर करेगी, उन्हें इंसान की जिन्दगी बसर करने का मौका देगी, अब तक वह जानवर थे

काले आदमी थे; अब वह आदमी हैं और अपने मुल्क के मालिक हैं। अब वह सुख पावेंगे, उनके बच्चे सुख पावेंगे, अब जिन्दगी का नक्शा ही कुछ और होगा—

राजू की मां को भी चौदह तारीख की रात को नींद नहीं आयी। उसके दिल में अजब एक हलचल मची हुई थी। यह सही है कि इधर बरसों से उसकी हालत ऐसी नहीं थी कि वह सक्रिय राजनीति में कुछ खास हिस्सा ले सकती, लेकिन जनता से उसका संबंध अब भी कायम था और गांधी जी के लिए, कांग्रेस के लिए अब भी उसके दिल में वैसी ही भक्ति थी जैसी कि पन्द्रह साल पहले थी, खद्दर पहनना उसकी आदत में दाखिल था और उसे इस बात का भी गर्व था कि सन् बयालिस में उसने कम से कम डेढ़ दर्जन लड़कों को अलग-अलग वक्तों पर अपने घर में छुपाया था।

इस वक्त वह बैठी सोच रही थी :

इसी दिन के लिए न जाने कितने नौनिहाल फांसी का झूला झूले, न जाने कितनों ने लाठियाँ खायीं गोलियां खायीं, हाथ पैर तोड़े, जान गँवायी, जिन्दगी में आराम से मुँह मोड़ा और जेल से नाता जोड़ा, लंबी-लंबी सजाएँ काटीं, अपना घरबार तहस-नहस किया, मिटे और बरबाद हुए—क्या नहीं किया। मेरे सामने भी तो शायद इसी दिन की कोई धुँधली-सी तसवीर रही होगी। वह दिन, कल जिसकी धुँधली-सी तसवीर हमारे मन के किसी निभृत कोने में थी, अब कल आजादी के सूरज में दप् दप् दमकेगा; तमाम स्याह धब्बे जब मिट जायेंगे और नयी सुबह होगी तो उस दिन की एक-एक रग नयी पत्ती की रगों की तरह हमें साफ और उभरी हुई नजर आयेगी; वह दिन जो कभी हमारे दिल में था कल हमारी मुट्ठी में होगा—इसी सब उधेड़बुन में उसे रात भर नींद नहीं आयी। पुरानी साथिनों की धुँधली-सी तसवीरें तालाब की तलहटी से

उछल कर सतह पर आनेवाली मछलियों की तरह उसके मन में आयीं। रात बड़ी देर तक वह अपने घर के लिए और अपने मुहल्ले के लिए दो बड़े-बड़े झंडे सीने में लगी रही। उसकी समझ में नहीं आता था कि वह क्या करे कि उसके अन्दर की हलचल कुछ कम हो। तकलीफ उसे भी अपने चारों ओर दिखायी देती थी लेकिन उसने 'आजादी की राह कँटीली होती है, आजादी फूलों की सेज नहीं है' के मन्त्र से तकलीफ के भूत को फिलहाल अपने पास से भगा दिया था और सचमुच खुश थी कि अपनी जिन्दगी में ही उसने वह दिन देख लिया, गांधी महात्मा ने वह दिन उसे दिखा दिया—

४

फिर दूसरी पन्द्रह अगस्त आयी—

छिन भर की वह सुबह कब और कैसे साल भर की रात हो गयी, किसी को पता ही न चला। उम्मीदों का कपूर उड़ने के लिए साल भर का वक्त कम नहीं होता। अब उनके सपनों के पर कट गये थे, उनकी उमंगें जख्मी थीं, उनकी उम्मीदें मर चुकी थीं...

राजू की मां भी अपनी उम्मीदों की लाश गोद में लिये बैठी थी। 'कहीं कुछ नहीं हुआ!' यह वह आजादी नहीं थी...नहीं, उसे धोखा हुआ था, जबर्दस्त धोखा...नहीं, आजादी की शकल ऐसी नहीं होती, कभी ऐसी नहीं होती, नहीं यह वह तसवीर नहीं है जो उसके दिल में थी...

किसी ने उसके दिल की उस तसवीर को इतनी बेरहमी से बीचोबीच से चीरा है कि उसके साथ-साथ उसका कलेजा भी चाक हो गया है। उस का दिल जख्मी है, उसकी गोद में उसकी उम्मीदों की लाश है और उसके दिमाग में बीते दिनों की वह तमाम बातें घूम रही हैं—वह लाखों-लाख लोगों की सभाएँ, वह मीलों लंबे जुलूस, वह आसमान को थप्पड़ मारनेवाले मारे, वह लड़ाइयाँ, मौत से वह आमने-सामने की मुलाकातें,

जेल की वह सफेद बेजान दीवारें और निचाट सूनी रातें, वह सब क्या इस...इस आजादी के लिए था, वह जो करोड़ों कदम एक साथ उठ रहे थे वह क्या इसी दिन की तरफ बढ़ रहे थे? इस दिन की तरफ?

सख्त बेचैनी की हालत में वह न जाने किस पर अपना इनकार जाहिर करने के लिए जोर-जोर से अपना सर झटक रही थी जब उसके पड़ोसी कपूर साहब की पत्नी ने आकर उससे कहा—अरे, राजू की मां, अभी तुम ने कपड़े भी नहीं बदले? झण्डाभिवादन में नहीं चलोगी? और यह क्या तुमने अपने यहाँ भी झण्डा नहीं लगाया अब तक?

राजू की माँ उसी तरह अपनी उम्मीदों की लाश गोद में लिए बैठी रही। उसके गले से सिर्फ एक भारी-सी आवाज निकली—मैं ग़म मना रही हूँ.........

...और उसी वक्त पिछले उत्सर्गों के इतिहास ने गौरीशंकर की चोटी से छलांग लगायी—

ज़र्क़ बर्क़ खादी की साड़ी में लिपटी हुई कपूर साहब की बीवी इस वक्त इस बेहूदगी की ताब न ला सकीं और बाहर निकल गयीं जहाँ नीलगूँ मगर गर्द से ढँके हुए आसमान के साये में मुर्दा उम्मीदों के तिरंगे कफन हवा में उड़ रहे थे, जहाँ लोग एक दूसरे की निगाहें बचाते हुए चल रहे थे क्योंकि उन निगाहों में डरावने सवाल थे, जहाँ बड़े-बड़े तुन्दिल सेठों और चिकनी मुसकराहट के महाजनों के सायबानों में बेवक्त की शहनाइयाँ बज रही थीं जिनकी सख्त-करख्त आवाज़ नंगे और भूखे इंसानों की तिलमिलाहटभरी चीखों को डुबा देने की नाकाम कोशिश कर रही थी।



दो शब्द

इस संग्रह की कई कहानियाँ मैंने स्थानीय प्रगतिशील लेखक संघ की गोष्ठियों में सुनायी हैं। तब उनके संबन्ध में जो आलोचनाएँ हुईं, उन्होंने कई बहुत महत्वपूर्ण साहित्यिक बहसों की शुरुआत की। इस वक्त मैं उन्हीं बहसों में से एक पर दो शब्द कहना चाहता हूँ। वह बहस खास तौर पर 'कस्बे का एक दिन' शीर्षक स्केच को लेकर हुई, लेकिन उसी तक वह सीमित नहीं रही और उसने एक आम साहित्यिक बहस की शक्ल ले ली। कुछ मित्रों ने सवाल उठाया कि क्या उस स्केच को प्रगतिशील कहा जा सकता है। उनकी आपत्ति का आधार यह था कि उस स्केच में कस्बे की जिन्दगी का निश्चेष्ट और नकारात्मक पहलू ही दिखलाया गया है, और आज के युग में जब सामाजिक क्रांति ने विकास की अगली राहें हमारे सामने खोलकर रख दी हैं, कोई प्रगतिशील साहित्यकार वस्तुस्थिति का यथातथ्य चित्रण कर देने मात्र से संतुष्ट नहीं हो सकता, उसे भविष्य का संकेत भी देना चाहिए। यह भविष्य को वर्तमान के पर्दे पर फेंक सकना आज के युग में प्रगतिशीलता की पहचान है। जो रचना ऐसा नहीं करती, वह यथार्थवादी हो सकती है, उसका यथार्थवाद सामाजिक आलोचनापरक हो सकता है, लेकिन तब भी उसे प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता।

इस बात में बहुत काफी सचाई है, लेकिन मेरी समझ में वह पूरी तरह ठीक नहीं है। 'प्रगतिशीलता' या 'प्रगतिवाद' को 'समाजवादी यथार्थवाद' का पर्याय समझना ठीक न होगा। इसलिए 'समाजवादी यथार्थवाद' को प्रगतिशीलता की अनिवार्य शर्त मान बैठने का अर्थ होगा प्रगतिशीलता के विस्तार को बहुत अधिक संकुचित कर देना। जीवन और समाज के प्रति प्रगतिशील आशावादी दृष्टिकोण रखनेवाला साहित्य ही भविष्य को वर्तमान के पर्दे पर फेंक सकता है, भविष्य का संकेत दे सकता है, हज़ार

अँधेरी रातों में भी आशा की किरण फूटते देख सकता है, यह बात बिलकुल ठीक है। क्रान्तिकारी (अर्थात् चरम प्रगतिशील) साहित्य का यह आवश्यक धर्म है, यह बात भी बिलकुल ठीक है। जिसे हम प्रगतिशील साहित्य कहते हैं उसके सामने यह क्रान्तिकारी लक्ष्य रहना चाहिए, बहुत हद तक रहता भी है, कई रचनाओं का पर्यवसान इस आदर्श के अनुकूल होता भी है। लेकिन बहैसियत एक लेखक के, बहुत छोटा सा लेखक ही सही, मुझे यह बात ठीक नहीं लगती कि इस सवाल पर ऐसे हठ के साथ अड़ा जाय। सदा, सब स्थितियों में, प्रत्येक कहानी, स्केच, कविता या उपन्यास का पर्यवसान या उसकी निष्पत्ति उस ढंग से हो ही (हो सके तो बहुत अच्छा है), यह बात जँचती नहीं। समाजवादी यथार्थवाद गोर्की का दिया हुआ नाम है, लेकिन उसके साहित्य में भी ऐसी बेशुमार चीज़ें मिलेंगी जो यथार्थ की भयानकता से आगे नहीं बढ़तीं, जिनमें भविष्य का इंगित नहीं है। उदाहरण के लिए 'नरपशु' और 'लोअर डेप्थ्स'। ऐसी स्थिति में निर्णायक बात यही हो सकती है कि यथातथ्य चित्रण करते समय लेखक का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण और आत्मसमालोचनात्मक है या विद्रूपात्मक और सचेतन रूप में नैराश्यवाद का प्रचारक। अंततः इसी कसौटी पर पहली चीज़ प्रगतिशील ठहरेगी (यद्यपि उसमें भविष्य का इङ्गित नहीं है और यथार्थ का चित्रण भी आशाजनक नहीं है) और दूसरी चीज़ प्रतिक्रियाशील ; क्योंकि दोनों का प्रभाव पाठक के मन पर दो तरह का पड़ता है।

समाजवादी यथार्थवाद समाजवादी देश-काल में ही प्रगतिशीलता की अनिवार्य पहचान बन सकता है। सामाजिक विकास के अन्य सभी स्तरों पर समाजवादी यथार्थवाद साहित्य की एक और सबसे अधिक क्रान्तिकारी, सबसे अधिक प्रगतिशील धारा बन सकता है, अकेली प्रगतिशील धारा नहीं।

'कस्बे का एक दिन' लिखते समय मुझे गोर्की का 'कामरेड' स्केच याद आया था और मैंने चाहा था कि अपने स्केच में मैं समाज के उन तत्वों की ओर भी संकेत कर सकूँ जो कस्बे की गडमड जिन्दगी को सुचारु

जीत होगी। लेकिन तब भी मैं वैसा नहीं कर सका। यह कुछ अंशों में मेरी अपनी अक्षमता भी है, इस अर्थ में कि मेरे पास वह तेज़ निगाहें नहीं हैं जो समाज के उन तत्वों को जो अभी केवल बीजरूप में हैं, देख सकें। पर बात इतनी ही नहीं है। लेखक जिस सामाजिक परिवेश, जिन पात्रों और जिस कथावस्तु को लेकर चलता है, वे भी एक हद तक लेखक को एक खास निष्पत्ति की ओर जाने पर विवश करते हैं। 'कस्बे का एक दिन' में नवनिर्माण के तत्वों की सूचना न होने के पीछे मेरी अक्षमता के साथ-साथ उस सामग्री की आंतरिक अक्षमता भी है जिसने स्केच के ईंट-गारे का काम किया है। इस प्रश्न पर विचार करते समय इन दोनों ही बातों का ध्यान रखना पड़ेगा और समूची कहानी या स्केच पर, उसके प्रभाव पर सम्यक् रूप से विचार करना पड़ेगा।

और लेखक भविष्य को वर्तमान के पर्दे पर फेंक पाता है या नहीं फेंक पाता, इससे ज्यादा बड़ी बात यह है कि वह अपने साथ और अपने पाठक के साथ छल नहीं करता। इस छल का सबसे सभ्य और सुसंस्कृत रूप यही है कि लेखक अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अपनी कृति को कृत्रिम रूप में ऐसी दिशा दे और उसका समाहार इस रूप में करे जिसका साक्ष्य उस कृति में और उस लेखक की अपनी अनुभूति या भावना में नहीं है। यह एक ऐसा घुन है जो साहित्य का सारा रस चूसकर उसे खोखला बना देता है।

इस दूषण की ओर से सावधान रहते हुए मैं इस बात को नहीं भूला हूँ कि आज साहित्यकार की यह जिम्मेदारी है कि वह अपने पात्रों और प्रतीकों के ज़रिये नये युग का आवाहन करे, नये युग की जीत की अनिवार्यता उद्घोषित करे, अर्थात् भविष्य को वर्तमान के पर्दे पर फेंके।

मेरी अगली कहानियों में भविष्य की रेखाएँ अधिक स्पष्ट और संघर्ष का स्वर अधिक प्रखर हो कर आये, इसके लिए मैं स्वयं संघर्ष करूँगा।

—*अमृतराय*